धर्म

और

उसकी आवश्यकता

—ज्ञानचन्द आर्य



श्री ज्ञानचन्द्र जी आर्य
सभासद सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

ओ३म   2

धर्म और उसकी आवश्यकता

इसमें पूर्वीय और पश्चिमीय विद्वानों तथा साईंसदानों की सम्मतियों
और शास्त्रीय बौद्धिक व प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा धर्म, राष्ट्रीयता,
साईंस, बल, स्वतन्त्रता और स्वराज्यादि अत्यन्त
लोकोपयोगी विषयों पर विचार करते हुये
यह दिखलाया गया है

कि

**धर्म क्या है ? और व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र को लौकिक
उन्नति के लिये उसकी क्यों आवश्यकता है ?**

लेखक—

ज्ञानचन्द आर्य्य

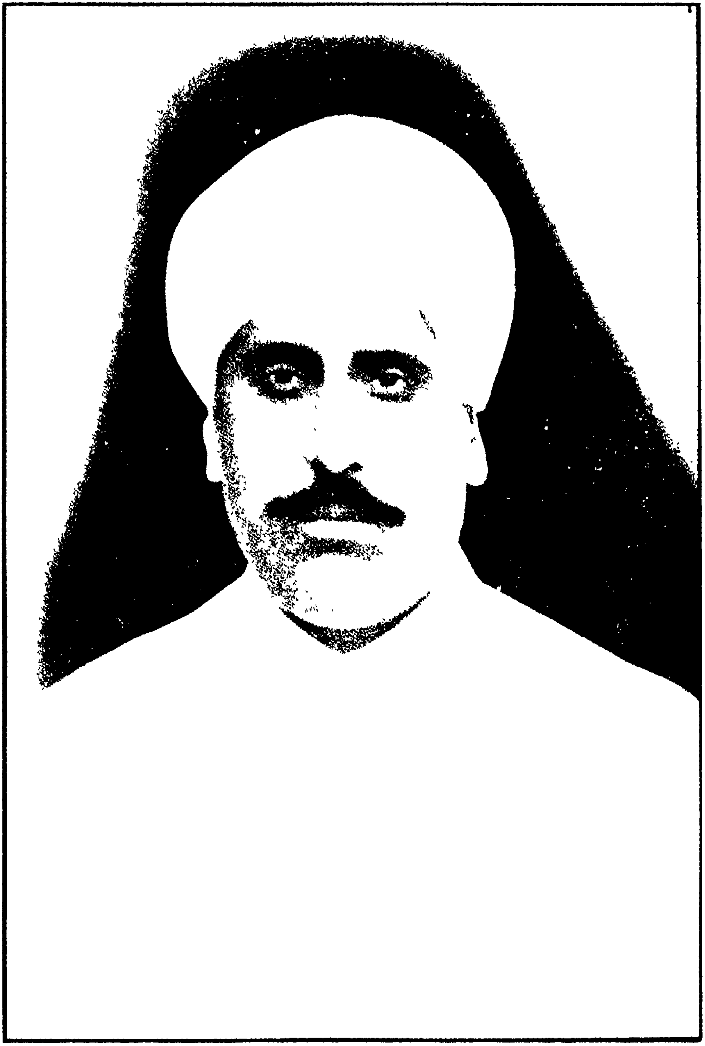
सभासद, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, देहली
लेखक इजहारे हक़ीक़त (उर्दू) अथवा
सत्य निर्णय (हिन्दी)

प्रकाशक—

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, देहली

दिसम्बर १९३५ ई०

मुद्रक—
काव्यतीर्थ शङ्करदेव पाठक, शास्त्री
चन्द्र प्रिण्टिङ्ग प्रेस, देहली



श्रीयुत विद्याधर बी० ए०

समर्पण

मैंने अपने स्वर्गीय पुत्र विद्याधर बी. ए. को यथाशक्ति
धार्मिक प्रकृति तथा प्रवृत्ति का बनाने का यत्न किया था,
और आशा थी कि वह अपने आचार विचार द्वारा
नवयुवकों में धार्मिक प्रवृत्ति का कारण बनेगा परन्तु
दैवयोग से युवावस्था में ही उसका जीवन समाप्त
हो गया। अतः मैं इस पुस्तिका को उसके
प्रतिनिधिरूपसे उस प्यारे नवयुवक विद्यार्थी-
जगत् की सेवा के लिये समर्पित करता हूँ
जो कि भारतीय ऋषियों के उत्तराधिकारी
हैं, और भावी भारत के नेतृत्व
तथा ऋषियोंकी सम्पत्ति व संस्कृति
की रक्षा का बोझ जिन के
कन्धों पर आने वाला है।

—लेखक

प्राक्कथन

पाठकवृन्द ! इस समय संसार में ईश्वर तथा धर्म के विरुद्ध विद्रोह का जो आन्दोलन चल रहा है, उसको मानव संसार के लिये अत्यन्त हानिकारक समझ कर वर्षों से मेरी यह इच्छा थी कि धर्मके वास्तविक स्वरूप और उसकी आवश्यकता को उन नवयुवकों विशेष कर भावी भारत के बनने वाले नेता विद्यार्थी-जगत् के सामने रखा जाये। जो कि अनजाने रिलीजन अथवा मजहब को ही धर्म समझकर वास्तविक धर्म का भी विरोध करते अथवा उससे उदासीन रहते हैं, परन्तु अयोग्यता व अस्वस्थता के कारण मुझे स्वयं तो ऐसे गंभीर विषय पर कुछ लिखने का साहस नहीं होता था इसलिये यत्न यह था कि किसी प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी योग्य विद्वान् से इस विषय पर लिखाया जाये। परन्तु सफल-काम न हो सका। चुनांचे इस ही विचार में था कि गत वर्ष देहली आर्यसमाज के अर्धशताब्दी-महोत्सव के सुअवसर पर आर्यसमाज की ओर से **"धर्म लोक उन्नति के लिये आवश्यक है अथवा अनावश्यक"** के विषय पर विचार करने के लिये एक कान्फ्रेंस रखी गई। और मुझे इस विषय पर लेख लिखकर सम्मेलन में पढ़ने के लिये आदेश किया गया। जिसको कि मैंने अपनी हार्दिक इच्छा की पूर्ति का सु-अवसर जान कर शिरोधार्य किया, और लेख लिखकर सम्मेलन में पढ़ा। लेख को सुनकर बहुत से श्रोता सज्जनों की ओरसे उसको पुस्तकाकार छपवा देने की

मांग की गई। इस लिये मैंने उस निबन्ध में कुछ और बढ़ाकर यह लघु पुस्तक छपवा दी है। मैंने इस में यथाबुद्धि **'धर्म के वास्तविक स्वरूप और उसकी आवश्यकता तत्सम्बन्धी आवश्यक विषयों की वास्तविकता'** पाठकों के सामने रखने का यत्न कियाहै। कृपया पाठक विचार पूर्वक इस को पढ़ें और देखें कि किस प्रकार के आचार विचार से मानव संसार का उत्थान और कल्याण हो सकता है। वैसे तो मनुष्य जिस प्रकार के चाहे अपने आचार विचार रख सकता है, अर्थात् अपनी वास्तविक-स्थिति और नैसर्गिक सच्चाईयों के विरुद्ध, अपने आचार विचार रखने में भी वह स्वतन्त्र है, परन्तु ऐसा करना अपने आपको भी धोखा देना और नुक़सान पहुँचाना है और दूसरों को भी, क्योंकि जिस प्रकार का स्वरूप किसी वस्तु का नहीं है उसको वैसा समझना भी भूल है और जैसा स्वरूप है वैसा न मानना भी ग़लती है। जो वस्तु जैसी है तदनुकूल ही अपने आचार विचार रखना हितकर और उपयोगी हो सकता है अन्यथा नहीं। आशा है कि सहृदय पाठक जो कुछ इसमें अपने लिये हितकर और उपयोगी समझेंगे, स्वयं भी उसको ग्रहण करेंगे और इस आत्म-प्रसाद अथवा जीवनरसामृत रूप धर्म का पान दूसरों को भी करायेंगे।

विषय सूची

धर्म विरोध का कारण

आज कल संसार में पतित-पावनी क्रान्ति-गङ्गा का प्रवाह बह रहा है। प्रत्येक देश के देशभक्त अपने अपने देश के जीर्णोद्धार के निमित्त उस में स्नान करना पुण्य अथवा अपना कर्तव्य समझ रहे हैं। जीवन के प्रत्येक अङ्ग में क्रांति द्वारा ही सुधार करने का प्रयत्न किया जा रहा है। पत्रों और प्लेटफार्मों से परिवर्तन, परिवर्तन, उन्नति, उन्नति, की दुहाई दी जा रही है। राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उथल पुथल किये जाने की धूम मच रही है। बड़े २ शक्तिशाली राजाओं, महाराजाओं महन्तों और मठाधीशों को पदच्युत करके मनचले और निडर क्रांतिकारी स्वयं शासक और अगुवा बन रहे हैं। झमूरियत के नाम पर डिक्टेटरशिप की स्थापना हो रही है।

इस क्रांति के युग में क्रांतिकारियों का आक्रमण मनुष्य समाज तथा उसकी संस्थाओं और विलासी व स्वार्थी राजाओं महाराजाओं और उनके नीति नियमों तथा आचार विचार तक ही सीमित नहीं रहा किन्तु कई एक राष्ट्रीय एकता के अभिलाषी साम्प्रदायिक झगड़ों से खिन्न क्रांतिकारियों की ओर से ईश्वर तथा धर्म पर भी क्रांति-कुठार का प्रहार किया जा रहा ह। उनका कथन है कि—

"अभ्युदय अथवा लोकोन्नति के लिये धर्म की कोई आवश्यकता नहीं। यह ईश्वर तथा धर्म अथवा मज़हब तो चतुर और बुद्धिमान् पूँजीपतियों से निर्मित हैं, जो कि उन्होंने भोलेभाले श्रमजीवियों के भोलेपन और अज्ञान से लाभ उठाने के लिये तथा उन्हें अपने आधीन और सन्तुष्ट रखने के लिये बनाये हैं। यह मज़ाहब अथवा मतमतान्तर तो वास्तव में बैर, विरोध और साम्प्रदायिक द्वेष के गढ़ हैं, उपद्रव का मूल हैं, इन्होंने मानव जाति में अगणित रक्तपात कराये हैं। यह राष्ट्रीय एकता के घोर शत्रु हैं, यह लौकिक तथा देश उन्नति के लिये न केवल अनावश्यक ही हैं अपितु उसमें बाधक भी हैं। इसलिये संसार को उनकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः जितना जल्दी संभव हो सके उन्हें संसार से मिटा देना चाहिये।"

इनकी ओर से अपने इन विचारों को फैलाने के लिये व्याख्यानों और लेखों द्वारा ही प्रचार नहीं किया जा रहा किन्तु राष्ट्रीय एकता तथा साम्यवाद के आवेश में रूस आदि देशों में राज्यबल द्वारा भी ईश्वर का बहिष्कार और मजहब को निर्मूल करने का क्रिया-

त्मक यत्न किया जा रहा है। मुझे यहां पर इस समय इस बात पर विचार नहीं करना है कि जो कुछ भी उन्नति के नाम पर इस समय किया जा रहा है वह वास्तव में उन्नति है अथवा अवनति, तो भी प्रसंगवश इतना अवश्य निवेदन करूंगा कि उक्त आन्दोलन के विचारशील कर्ता धर्ता भी निश्चित रूप से यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि उनके इस क्रांति-काल के विचार और आचार अथवा परिवर्तन व उथल पुथल वास्तव में ही ठीक सत्य और उन्नति है, वह भी केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह सब परीक्षण हैं, समय ही बतायेगा कि उन्नति क्या है और अवनति क्या ? अस्तु।

सज्जनवृन्द ! "धर्म अभ्युदय के लिये आवश्यक है अथवा अनावश्यक" यह एक बड़ा गम्भीर प्रश्न है। और इस समय जब कि रोटी के प्रश्न ने मनुष्य मात्र को उन्मत्त कर दिया हुआ है अथवा लोगों के दिलो दिमाग़ उनके पेट के अन्दर हैं और संसार के राष्ट्र स्वार्थान्ध होकर परस्पर एक दूसरे की रोटी अथवा धन, मान और ऐश्वर्य छीननेके लिये उतारू हुये २ हैं। ईश्वर और धर्म के विषय पर विचार करना अत्यन्त कठिन है क्यों कि ऐसे गम्भीर प्रश्न समाज की शान्त अवस्था में ही भली भांति विचारे जा सकते हैं। यद्यपि ऐसे समय में इस प्रश्न पर विचार करने से किसी विशेष लाभ की आशा करनी सन्दिग्ध है। क्योंकि जब तक भूखों की भूख तथा भोगों की लोलुपता शान्त न होगी तब तक वह किसी की भी न सुनेंगे। यह लोकोक्ति भी इसका समर्थन

करती है "पहिले खा पीछे खुदा" "पेट न पईयां रोटियां सभे गल्लां खोटियां" तथापि चूंकि इस प्रश्नका समाधान होना मानवीय संसार के लिये अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य जीवन के साथ धर्म का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, और जिसके सम्बन्ध में यह कहना भी अत्युक्ति नहीं किन्तु यथार्थ होगा कि धर्म के बिना मनुष्य मनुष्य कहलाने का भी अधिकारी नहीं है। इस पर विचार करना ही श्रेयस्कर है क्योंकि न करने से कुछ करना ही अच्छा है। अतएव असली प्रश्न पर विचार आरम्भ करने से पूर्व यह प्रश्न होता है कि इस समय विशेष रूप से उक्त प्रश्न के उठने का कारण क्या है? और क्या उपरोक्त धर्मसम्बन्धी घृणा तथा विरोध अकारण हैं अथवा इसका कारण वास्तविक धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ, केवल राजनैतिक अभ्युदय को जीवन का उद्देश्य मानने वाले क्रांति के प्रवाह में प्रवाहित देशभक्तों का सीमा से बढ़ा हुआ जोश है। जोकि उन्हें धर्म की आवश्यकता को अनुभव नहीं करने देता। इसका उत्तर खुली आंखों और स्वतन्त्र बुद्धि से समाज की अवस्थाओं और मानवीय प्रकृतियों तथा प्रवृत्तियों पर विचार करने वाला प्रत्येक अनुभवी विद्वान् व इतिहास वेत्ता लगभग यही देगा कि चूंकि यह एक सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता इसलिये वास्तविक धर्म से घृणाका कारण तो धर्म के स्वरूप से नावाकफ़ी धर्म और रिलीजन को पर्याय समझना तथा वर्तमान समय की भोगवाद (मादापरस्ती) की लहर से बनी हुई लोगों की समझ है। जैसा कि

भारत के सुपुत्र श्री ला० हरदयाल जी एम० ए० के निम्नलिखित शब्दों से प्रकट है कि—

"बहुत से मरदों और औरतों के दिमाग़ में रुपया की बात इतनी ज़्यादा समाई हुई है कि वह किसी ऐसे काम को हाथ नहीं लगाते जिस से उन्हें माली फ़ायदा (आर्थिक लाभ) न हो। वह समझते हैं कि किसी ऐसे अध्ययन या दिमाग़ी काम के लिये कोशिश करना जो रुपये की शक्ल में तबदील न किया जा सके, बेवक़ूफ़ी है। पस रुपये की ख़ातिर सख़्त मेहनत करना और उसके बाद खेल कूद और आराम यह उनकी ज़िन्दगी का दस्तूर मालूम होता है, दिमाग़ को वह मादीं खुशहाली की सिर्फ़ कुंजी समझते हैं। और ज्ञानी दिमाग़ी तरक्की को बेवक़ूफ़ों का शुग़ल ख़याल करते हैं, यह काबल रहम मादी जहनियत सोसाइटी की तमाम जमाइतों में गहरी गड़ी हुई है। हिन्द् लाहौर १० जून १९३२

इसके अतिरिक्त मज़ाहब अथवा मतमतान्तर सम्बन्धी घृणा का कारण जहां देश की अवस्थाओं और आवश्यकताओं पर अवलम्बित धर्म के वास्तविक स्वरूप को न जानने तथा धर्म और रिलीजन Religion को पर्य्याय समझने वाले राजनैतिक क्षेत्र में उतरे हुए वीरों का जोश है, वहां इसका मुख्य कारण युरुप में धर्म को बदनाम करने वाले मज़हबों के परस्पर के ऐतिहासिक रक्तपात और पाशविक अत्याचार तथा राजनैतिक कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप आदि दोष हैं और भारत में धर्म के नाम पर अधर्म करने वाले धर्माभासी मतमतान्तरों के अविद्याजनक

आचार व्यवहार तथा साम्प्रदायिक वैर विरोध और झगड़े हैं, जो कि राष्ट्रीय एकता में बाधक हो रहे हैं। यह एक अकाट्य सचाई है कि जिससे मत मतान्तरों के अनुयायी स्वयं भी उस समय तक इनकार नहीं कर सकते अथवा अपने माथे से इस कालिमा को नहीं धो सकते, जब तक कि इतिहास के पन्नों पर उनके अन्धविश्वासजनक अत्याचारों और विद्याविरोधी आचारों और विचारों का उल्लेख मौजूद है। और समय समय पर उन्हें उनके क्रियात्मक जीवन में दोहराया जा रहा है : और वह इसके लिए अपने आचार, विचार और व्यवहार में वास्तविक धर्म के अनुकूल परिवर्तन करके प्रायश्चित्त नहीं करते।

मेरे उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि धर्माभासी मतमतान्तरों के दोषों का उक्त घृणा का कारण होने पर वास्तविक धर्म भी दूषित और अनावश्यक है। क्योंकि मेरी सम्मति में तो मानवीय जगत की स्थिर आवश्यकताओं में धर्म की आवश्यकता सर्वोपरि है। और धर्म तथा मतमतान्तरों में जो अन्तर है धर्म को अनावश्यक बतलाने वाले भाई उस से अनभिज्ञ होने अथवा उस ओर ध्यान न देने के कारण धर्म मज़हब व रिलीजन Religion को पर्याय समझ कर भूल से धर्म का भी विरोध करते हैं।

धर्म और मज़हब

पूर्व इसके कि 'धर्म लोकोन्नति के लिये आवश्यक है अथवा अनावश्यक' के विषय पर विचार किया जाय, यह जानना आव-

श्यक है कि धर्म और मज़हब का स्वरूप क्या है और इनमें परस्पर अन्तर क्या है।

क्योंकि जब तक यह मालूम न हो तब तक इनके सांसारिक उन्नति के लिये आवश्यक और अनावश्यक होने की जांच भी नहीं कर सकते।

धर्म का स्वरूप

१—धर्म संस्कृत भाषा का शब्द है जो कि धारण अर्थ वाली 'धृ' धातु से बनता है। अतः "धार्यते इति धर्मः" अर्थात् जो धारण किया जाय वह धर्म है। अथवा लोक परलोक के सुखों की सिद्धि के हेतु सार्वजनिक पवित्र गुणों और कर्मों का धारण व सेवन करना धर्म है। दूसरे शब्दों में यूं भी कह सकते हैं कि मनुष्य जीवन को उच्च और पवित्र बनाने वाली ज्ञानानुकूल जो शुद्ध सार्वजनिक मर्यादा-पद्धति (दस्तूर उल अमल) है वह धर्म है।

२—जैमिनि मुनि ने भी मीमांसा शास्त्र के दूसरे सूत्र में धर्म का लक्षण—

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः

किया है। अर्थात् लोक परलोक के सुखों की सिद्धि के हेतु गुणों और कर्मों में प्रवृत्ति की प्रेरणा धर्म का लक्षण है।

३—वैदिक साहित्य में 'धर्म' वस्तु के स्वाभाविक गुण तथा कर्तव्य के अर्थों में भी आया है। जैसे जलाना और प्रकाश करना अग्नि का धर्म है और प्रजा का पालन तथा रक्षण राजा का धर्म है।

४—मनुस्मृति में भी लिखा है—

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।'

मनु० अ० ६, श्लो० ९.

इसमें मनु जी ने धैर्य, क्षमा, मन को प्राकृतिक प्रलोभनों में फँसने से रोकना, चोरी त्याग, शौच, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि अथवा ज्ञान, विद्या, सत्य, और अक्रोध धर्म के लक्षण बतलाये हैं। दूसरे स्थान पर भी कहा है—

'आचारः परमो धर्मः'

मनु० अ० १ श्लो० १०८.

अर्थात सदाचार परम धर्म है।

५—धार्मिक साहित्य में आध्यात्मिकता, अहिंसा, दया, दान, सन्तोष, प्रेम, सहानुभूति, सहन-शीलता, सभ्यता, सज्जनता, सरलता, स्वतन्त्रता, परोपकार, आर्जव, ब्रह्मचर्य, तप, त्याग, वीरता, पुरुषार्थ आदि भी धर्म के विशेषण माने गये हैं।

६—महाभारत में भी लिखा है—

'धारणाद् धर्ममित्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः ।'

अर्थात् जो धारण किया जाय और जिससे प्रजाएँ धारण की हुई हैं वह धर्म है।

७—वैशेषिक दर्शन के कर्ता महामुनि कणाद ने धर्म का लक्षण यह किया है—

'यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धिः सः धर्मः'

अर्थात् जिससे अभ्युदय (लोकोन्नति) और निश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती है, वह धर्म है।

८—ऋषि दयानन्द जी ने भी पक्षपात रहित न्यायाचरण तथा सत्य भाषण आदि सदाचार को ही धर्म माना है और धर्म तथा मनुष्यत्व को पर्याय बतलाया है। जैसा कि उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है।

"पक्षपात रहित न्यायाचरण सत्य भाषणादि युक्त जो ईश्वर आज्ञा वेदों से अविरुद्ध है, उसको धर्म मानता हूं।"

सत्यार्थ प्रकाश मन्तव्य ३.

"इस काम में चाहे कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपन धर्म से पृथक् कभी भी न होवे।"

सत्यार्थ प्रकाश का अन्त.

"जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण, असत्यका सर्वथा परित्याग रूप आचार है उसी का नाम धर्म और उससे विपरीत का नाम अधर्म है।"

सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ३.

९—वैदिक साहित्य में कहीं पर भी धर्म शब्द पन्थ अथवा मजहब के अर्थों में नहीं आया है। और न ही बाहर के चिह्नों को कहीं पर धर्म माना है। यथा "न लिंगं धर्म कारणम्" अर्थात् बाहर के चिह्न धर्म का कारण नहीं हैं, इत्यादि।

ऊपर उद्धृत किये हुए शास्त्रीय लक्षण परस्पर विरोधी नहीं हैं क्योंकि यह तीन प्रकार के हैं। १ स्वरूपात्मक, २ क्रियात्मक, ३ फलात्मक। जैसे—

१—जैमिनी ने जो धर्म का लक्षण किया है वह स्वरूपात्मक है। क्योंकि जिस प्रकार प्रकाश करना अग्नि का स्वभाव अथवा धर्म है उस ही तरह दुःख निवृत्ति तथा सुख प्राप्ति की प्रेरणा करना आत्मा का स्वभाव अथवा धर्म है। जिसको कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अनुभव करता है। और जिसको अन्तरात्मा अथवा कान्शेंस Conscience या जमीर की आवाज़ भी कहते हैं।

२—दूसरे मनु महाराज आदि ने धर्म के जो लक्षण बतलाये हैं वह क्रियात्मक लक्षण हैं अर्थात् उनके अनुकूल आचार-विचार करना धर्म है।

३—महर्षि कणाद का किया हुआ धर्म का लक्षण फलात्मक है क्योंकि उसमें धर्मानुकूल आचार विचार रखने का फल अभ्युदय (लोकोन्नति) और मोक्ष की सिद्धि बतलाया है। अतः इन में परस्पर विरोधी होने का सन्देह भ्रम मूलक है।

मज़हब का स्वरूप

मजहब का अर्थ है पन्थ अर्थात् वह रास्ता जो स्वर्ग तथा ईश्वर प्राप्ति का है और जो कि मजहब के प्रवर्तक ने बताया है। अनेक जगहों पर मजहब ईमान अर्थात् विश्वास के अर्थों में भी आता है।

धर्म और मज़हब में अन्तर

१—ऊपर लिखे गये धर्म के शास्त्रीय लक्षणों तथा अर्थों और मज़हब के अर्थों से विदित है कि धर्म और मज़हब समानार्थक नहीं है और न ही धर्म ईमान या विश्वास का पर्य्याय है।

२—धर्म क्रियात्मक वस्तु है और मज़हब विश्वासात्मक।

३—धर्म मनुष्य के स्वभावानुकूल अथवा मानवी प्रकृति होने के कारण स्वाभाविक है और उसका आधार ईश्वरीय अथवा सृष्टि नियम हैं। परन्तु मज़हब मनुष्य कृत होने से अप्राकृतिक अथवा अस्वाभाविक है। मज़हबों का अनेक व भिन्न २ तथा परस्पर विरोधी होना उनके मनुष्यकृत अथवा बनावटी होने का प्रमाण है।

४—अन्य मानवी विशेषणों की भांति सामान्य धर्म भी मनुष्य मात्र का एक ही है। इसलिये वह सार्वजनिक मानवी धर्म है जैसे मनु जी के बतलाए हुए 'धृति क्षमादि' धर्म के लक्षण मनुष्य मात्र के लिये समान हैं। उनमें अपवाद भले ही कोई करे, परन्तु कोई भी सभ्य मनुष्य उनका विरोधी नहीं है। किन्तु मज़हब अनेक हैं और प्रत्येक मज़हब उसके अनुयायियों के अतिरिक्त दूसरों के लिये अमान्य और अग्राह्य है। इसलिये वह सार्वजनिक नहीं हैं। हां ! मज़हबों में भी कुछ अंश धर्म का अथवा धर्मानुकूल है। और उस ही के कारण उनका भी कुछ मान बना हुआ है।

५—धर्म सदाचार रूप है अतः धर्मात्मा होने के लिये सदाचारी होना अनिवार्य है। परन्तु मज़हबी अथवा पन्थाई होने के लिये सदाचारी होना आवश्यक नहीं है। अर्थात् जिस तरह धर्म के साथ सदाचार का नित्य सम्बन्ध है उस तरह मज़हब के साथ सदाचार का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि किसी मज़हब का अनुयायी न होने पर भी मनुष्य सदाचारी (धर्मात्मा) बन सकता है। परन्तु आचार सम्पन्न होने पर भी कोई मनुष्य उस वक़्त तक मज़हबी अथवा पन्थाई नहीं बन सकता जब तक कि मज़हब के मन्तव्यों पर ईमान अथवा विश्वास नहीं लाता। जैसे कि चाहे कोई कितना ही सच्चा ईश्वरोपासक और उच्च कोटि का ही सदाचारी क्यों न हो वह जब तक हज़रत ईसा और अञ्जील तथा हज़रत मोहम्मद और कुराने शरीफ़ पर ईमान नहीं लाता तब तक ईसाई और मुसलमान नहीं बन सकता।

६—धर्म ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है अथवा धर्म अर्थात् धार्मिक गुणों और कर्मों के धारण करने से ही मनुष्य मनुष्यत्व को प्राप्त करके मनुष्य कहलाने का अधिकारी बनता है। दूसरे शब्दों में धर्म और मनुष्यत्व पर्य्याय हैं। क्योंकि धर्म को धारण करना ही मनुष्यत्व है। कहा भी है—

'आहार निद्राभयमैथुनश्च, सामान्यमेतत्पशु भिर्नराणाम्।
धर्मोहितेषामधिको विशेषो, धर्मेणहीनः पशुभिः समानः॥'

अर्थात खाना, सोना, डरना और सन्तान उत्पन्न करना आदि कर्म मनुष्यों और पशुओं में एक समान हैं। केवल धर्म ही मनुष्य

में विशेष है। जो कि मनुष्य को मनुष्य बनाता है। धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान है। परन्तु मज़हब मनुष्य को केवल मज़हबी अथवा पन्थाई और अन्धविश्वासी बनाता है। दूसरे शब्दों में मज़हब के मौलिक मन्तव्यों पर ईमान लाने से मनुष्य केवल मज़हब का अनुयायी ईसाई मुसलमान आदि बनता है न कि धर्मात्मा या सदाचारी।

७—धर्म मनुष्य का ईश्वर से सीधा सम्बन्ध जोड़ता है। और उसको मोक्ष प्राप्ति के निमित्त धर्मात्मा अथवा सदाचारी बनना अनिवार्य बतलाता है। यथा

"यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

परन्तु मज़हब मुक्ति के लिये मज़हबी अथवा पन्थाई बनना अनिवार्य बताता है। और नजात के लिये सदाचार को अनावश्यक ठहराता है। या यूं समझिये कि जहां धर्म उच्च कोटि का मनुष्य अथवा देवता बनने और जीवन मुक्त तथा विदेह मुक्त होने के लिये ज्ञान पूर्वक सदाचार को ही सर्वोपरि साधन बताता है वहां मज़हब नजात के लिये ज्ञान और सदाचार को अनावश्यक और निरर्थक ठैराता है। और केवल मज़हबी अथवा पन्थाई बनने को वाधित करता है। उदाहरण के लिये सही बुख़ारी की इस हदीस को उद्धृत किया जा सकता है।

मिनकाला ला इल्हा इल्लुला फ़दख़लुल-

जन्नाः व इञ्ज़नाः व इन सरक़ाः।

अर्थात् ला इला इल्ल इल्ला कहनेवाले मुसलमान बहिशत में जायेंगे

चाहे वह व्यभिचारी और चोर हों। इसी ईमान अथवा विश्वास से प्रेरित होकर स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली साहब ने एक बार यह कहा था कि "महात्मा गान्धी कैरेक्टर Character (सदाचार) की दृष्टि से बहुत ऊँचे महात्मा हैं। परन्तु मुझे अफ़सोस है कि वह दोज़ख़ में जायेंगे, क्योंकि वह मुसलमान नहीं हैं" और उन्हें दोज़ख़ के अज़ाब से बचाने के लिये मक्का शरीफ में उनके मुसलमान होने के लिये, उन्होंने प्रार्थना भी की थी। यदि इस विषय पर अधिक उदाहरण देखने हों तो मेरी बनाई पुस्तक 'इज़हार हक़ीकत (उर्दू) अथवा 'सत्य निर्णय' (हिन्दी) पढ़िये।

८—धर्म में बाहर के चिह्नों का कोई स्थान नहीं। क्योंकि धर्म लिङ्गात्मक नहीं है। यथा—

न लिङ्गं धर्मकारणम्

अर्थात् लिङ्ग धर्म का कारण नहीं है। परन्तु मज़हब के लिये बाहरी चिह्नों का रखना अनिवार्य है।

९—धर्म मनुष्य को पुरुषार्थी बनाता है। क्योंकि वह ज्ञान पूर्वक सत्याचरण से ही अभ्युदय और मोक्ष प्राप्ति की शिक्षा देता है। परन्तु मजहब मनुष्य को आलस्य का पाठ पढ़ाता है। क्योंकि वह मज़हब के मन्तव्यों को मान लेने मात्र से ही नजात को मिलना मानता है।

१०—धर्म मनुष्य का ईश्वर से सीधा सम्बन्ध जोड़कर मनुष्य को स्वतन्त्र और आत्मावलम्बी बनाता है क्योंकि वह मनुष्य और ईश्वर के बीच में किसी मध्यस्थ या एजंट की ज़रू-

रत नहीं बताता। किन्तु अपने पुरुषार्थ से ही अभ्युदय और मुक्ति का मिलना मानता है। परन्तु मज़हब मनुष्य को परतन्त्र और दूसरों का आश्रित बनाता है। क्योंकि वह मज़हब के प्रवर्तक की सिफ़ारिश के बिना मुक्ति का मिलना नहीं मानता।

११—धर्म दूसरों के हितों, स्वत्वों, और प्राणों की रक्षा के लिये मनुष्य को अपनी कुरबानी करना सिखाता है। परन्तु मज़हब मनुष्य को अपने हित के लिये पशुओं और मनुष्यों तक की हिंसा रूप कुरबानी का उपदेश करता है।

१२—धर्म मनुष्य को प्राणी मात्र के साथ प्रेम करना सिखलाता है परन्तु मज़हब प्राणियों के मांसाहार तथा दूसरे मज़हबवालों से द्वेष का पाठ पढ़ाता है।

१३—धर्म मनुष्य जाति को मनुष्यत्व के नाते से एक प्रकार के सार्वजनिक आचारों और विचारों द्वारा एक केन्द्र पर केन्द्रित करके भेद भाव और विरोध को मिटाता तथा एकता का पाठ पढ़ाता है। परन्तु मज़हब अथवा मत-मतान्तर अपने भिन्न २ मन्तव्यों तथा कर्तव्यों के कारण अपने पृथक् २ जत्थे बनाकर भेद भाव और विरोध को बढ़ाते व एकता को मिटाते हैं।

१४—धर्म एक मात्र ईश्वर की पूजा सिखलाता और मज़हब मनुष्य पूजा फैलाते हैं, इत्यादि इत्यादि।

उन्नति क्या है ?

धर्म और मज़हब के स्वरूप और उनका अन्तर जान लेने के पश्चात यह जानना भी ज़रूरी है कि उन्नति क्या है ? और उन्नति.

के लक्षण क्या हैं ? क्योंकि जब तक उन्नति का स्वरूप मालूम न हो तब तक इसके यथार्थ साधन भी नहीं जाने जा सकते। और जब तक साधन मालूम न हों तब तक इस प्रश्न का निर्णय भी नहीं कर सकते कि धर्म लोकोन्नति का साधन है या नहीं।

सज्जन वृन्द! उन्नतिके साधारण अर्थ तो हैं वृद्धि और बढ़ोती, जिसका अभिप्राय पूर्व की अपेक्षा अच्छी स्थिति को प्राप्त करना अर्थात् जीवन के ध्येय, लक्ष्य अथवा उद्देश्य की ओर बढ़ना, परन्तु यहां पर अभीष्ट यह जानना भी है, कि वह कौनसे गुण तथा लक्षण हैं कि जिनसे किसी व्यक्ति, राष्ट्र और देश की वृद्धि, बढ़ोती या उन्नति जानी जा सकती है। इसका उत्तर उन्नत व्यक्तियों, राष्ट्रों तथा देशोंकी स्थिति और इतिहास के अध्ययन करने से हमें यही मिलता है, कि उन्नति के सूचक गुण अथवा लक्षण ज्ञान, कर्म या पुरुषार्थ, धन, धान्यादि सम्पत्ति सदाचार तथा स्वतन्त्रता है, क्योंकि यही विशेष शक्तियां हैं कि जिनसे सम्पन्न व्यक्ति राष्ट्र और देश उन्नत समझे जाते हैं, अर्थात् जो व्यक्ति राष्ट्र, तथा देश जितनी मात्रा में ज्ञानवृद्ध, कर्म-कुशल तथा पुरुषार्थी, धन धान्यादि जीवन सम्बन्धी आवश्यक वस्तुओं से सम्पन्न, सदाचारी और स्वतन्त्र होगा वह उतनी ही मात्रा में सभ्य, शक्ति-शाली अथवा उन्नत समझा जायेगा। यद्यपि उन्नति की यह कसौटी संक्षिप्त है तथापि मानवीय जगत् की शारीरिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक आदि सब प्रकार की उन्नति का अन्दाज़ा करने के लिये पर्याप्त है।

उन्नति के साधन क्या हैं

पाठक वृन्द ! धर्म व मज़हब का स्वरूप व उनका अन्तर तथा उन्नति का लक्षण जानने के पश्चात् हम इस योग्य हो गये हैं कि उन्नति के यथार्थ साधन या साधनों की जांच कर सकें। इसके लिये हमें इस मौलिक आक्षेप कि "धर्म लोकोन्नति के लिये अनावश्यक है" का उत्तर देने के पूर्व यह भी जानना है कि जो महाशय लोकोन्नति के लिये धर्म और मज़हब को अनावश्यक बतलाते हैं वह स्वयं लोकोन्नति के साधन क्या मानते हैं। ताकि हम धर्म और मज़हब के साथ २ उनकी उपयोगिता पर भी विचार कर सकें। चूँकि उक्त आक्षेप के कर्त्ता प्रायः राजनैतिक क्षेत्र में काम करने वाले सज्जन ही हैं इसलिये लोक उन्नति से उनका अभिप्राय भी प्रायः अपने देश अथवा संसार की राजनैतिक तथा आर्थिक उन्नति से ही होता है। जिसके साधन उनके मतानुसार राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय एकता, साइन्स, बल, स्वतन्त्रता, नवीनता तथा परिवर्तन आदि हैं। अतः हम यहां इन पर भी कुछ विचार करेंगे। आशा है इसको विषयान्तर न समझा जायगा।

धर्म शून्य राष्ट्रीयता तथा मज़हब पर तुलनात्मक दृष्टि

लौकिक उन्नति के लिये मज़हबों अथवा मत मतान्तरों को अनावश्यक बतलाने वाले भाई प्रायः इसलिये ही उनको अनावश्यक बतलाते हैं कि वह राष्ट्रीय एकता में बाधक हैं और राष्ट्रीय

एकताको वह लौकिक उन्नतिके लिये अत्यन्त आवश्यक समझते हैं; इसलिये आवश्यक है कि राष्ट्रीयता तथा मजहब की लौकिक उन्नति के लिये उपयोगिता अनुपयोगिता को तुलनात्मक दृष्टि से जांचा जाये ताकि उनके पक्षपातियों को अपनी २ वास्तविक स्थिति मालूम हो जाये। राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय एकता लोकोन्नति के लिये आवश्यक है, यह एक निर्विवाद सचाई है, कि जिससे कोई भी समझदार आदमी इनकार नहीं कर सकता। क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष तथा अनुभव सिद्ध है कि जिस देश के वासी परस्पर मिलकर अपनी सामूहिक शक्ति अथवा तन मन धन से देश की उन्नति तथा रक्षा के लिये यत्न करते हैं वह देश ९९ प्रतिशतक अवश्य उन्नत होता है और कोई भी दुराशय अथवा लोभी-लालची आक्रमणकारी सुगमता से उसके स्वत्वों, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता को हरण नहीं कर सकता। परन्तु यह राष्ट्रीयता भी उसी अवस्था में अपने और दूसरों के लिये हितकर और उपयोगी हो सकती है कि जिस अवस्था में उसका दुरुपयोग अथवा धर्मविरुद्ध उपयोग न किया जाये, और यदि धर्म का अंकुश उस पर न होगा तो निस्सन्देह राष्ट्रीयता भी वैसी ही भयंकर और हानिकारक बन जायगी; जैसे कि देश-भक्तों की दृष्टि में धर्माभासी मजहब अथवा मत-मतान्तर हैं।

देश-भक्त ला० हरदयाल एम० ए० के निम्न लिखित लेख से भी इसका समर्थन होता है—

"योरप के बहुत से दूर अन्देश रहवरों ने पैरस में मुसन्निफों और

लेखकों आदि की एक कानफरेंस इसलिये बुलाई थी कि मौजूदा तोप व तुफंग और बम्ब बाज़ी से मुल्क की आज़ादी और तहज़ीब की किस तरह पर रक्षा की जाये। जिसमें योरप के बहुत से विद्वान् जमा हुए थे। उस कानफरेंस में मिस्टर आण्ड्रे शाम्सून ने फ़रमाया था कि पुरानी तरह की बेलगाम कौमियत से दुनिया को बहुत नुक़सान हुआ है और हो रहा है। और आइन्दा भयानक संग्राम से जगत् को बचाने के लिये यह अज़हद ज़रूरी है कि **कौमियत के खयालात को न्याय, धर्म, और सदाचरण की कसौटी पर परखा जाये।** आजकल योरप में कौमियत का ख़याल मुनासब दरजे से ज़्यादा बढ़ गया है और कौमों के मज़ाज का थर्मामीटर बहुत चढ़ा हुआ है। जिससे सख़्त बुख़ार और माली खोलिया का ख़तरा मालूम होता है।" तेज वीकली १६ सितम्बर १६३५

यह मान लिया कि कुछ मज़हबों ने अत्याचार किये और रक्तपात भी कराये हैं; और इस से संसार को हानि पहुँची है, परन्तु राष्ट्रीयता के पक्षपाती सज्जनों ने इस ओर भी कभी ध्यान दिया है कि जिस राष्ट्रीयता पर उन्हें इतना गर्व है और जिसकी बलि-वेदी पर वह मज़हबों का बलिदान करना चाहते हैं, वह राष्ट्रीयता धर्मशून्य होने से मानवीय जगत् के लिये उन मज़हबों से कुछ कम भयानक नहीं है, किन्तु इस राष्ट्रीयता ने मज़हबों की अपेक्षा अधिक अत्याचार और रक्तपात कराये और करा रही है। यह कितना आश्चर्य है कि हमारे नीति-निपुण आक्षेप-कर्ताओं ने अपनी निःसार कल्पना के आधार पर सब मज़हबों के प्रवर्तकों

को तो एक ऐसे हास्यास्पद जाल रचने का अपराधी ठैराया है, जो कि भोले भाले लोगों से लाभ उठाने के लिये मज़हब के नाम से निरन्तर जारी है। यद्यपि यह एक ऐतिहासिक सचाई है कि उनमें महात्मा बुद्ध जैसे परम त्यागी महापुरुष भी हुए हैं। जो कि सांसारिक प्रलोभनों से नितान्त मुक्त थे और संसार को सभ्य बनाने में उनका बड़ा भारी भाग है। परन्तु उन्होंने राष्ट्रीयता के पक्षपाती उन राष्ट्रीय लुटेरों के पापपूर्ण जीवन की ओर कभी ध्यान नहीं दिया, जिन्होंने केवल अपने राष्ट्र का लोभ पूरा करने के निमित्त लाखों मनुष्यों की हत्या की, निर्बलों की सम्पत्तियां लूटीं, विधवाओं और अनाथों की संख्या को बढ़ाया, तथा उनके स्वत्वों को छीना, और आबाद व आज़ाद देशों तथा हरी हरी हरियावलियों को विनष्ट किया और स्वतन्त्रता को छीना, हालांकि यह एक जगत् प्रसिद्ध सचाई है कि जिसका समर्थन लगभग सब ही शक्ति-शाली राष्ट्रों के इतिहास से होता है और विद्यमान राष्ट्रों का धर्म विरुद्ध कुत्सित आचार व्यवहार भी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि आक्षेप-कर्ता भाई विचार-पूर्वक देखेंगे तो उन्हें मानना पड़ेगा कि जिन दूषणों के दोषी वह मज़हबों को ठैराते हैं, वही सब बल्कि उनसे भी अधिक दोष वर्तमान राष्ट्रीयता में पाये जाते हैं। अर्थात् यदि मज़हब एक दूसरे के विरोधी हैं तो राष्ट्र भी एक दूसरे के घोर शत्रु हैं। यदि मज़हब अपने अनुयायिओं को एक दूसरे से लड़ाते हैं तो राष्ट्रीयता भिन्न २ राष्ट्रों और देशों को आपस में लड़ाती है। यदि

मज़हब राष्ट्रीय एकता में बाधक हैं, तो राष्ट्रीयता भी अन्तर राष्ट्रीय-एकता अथवा विश्व-प्रेम और सार्वभौम भ्रातृभाव में विघ्नकारी तथा प्रति-बन्धक है। यदि मज़हब मज़हबी विचार से दल-बन्दी करते हैं तो राष्ट्रीयता देश के विचार से दलों को बनाती है। और यदि राष्ट्रीयता के पक्षपाती महाशय यह कहें कि जिन देशों का राष्ट्रीय संगठन प्रबल है उन्होंने उसके द्वारा अपने राज्य का विस्तार करके अपने को बहुत उन्नत कर लिया है, इसलिये राष्ट्रीयता भी देश-उन्नति का कारण है, तो उन्हें इस ऐतिहासिक सचाई को भी नहीं भूलना चाहिये कि जिस तरह देश सीमा से बनी हुई किसी देश की धर्म शून्य राष्ट्रीयता दूसरे देशों को लूट खसूटकर अपने देश की उन्नति का कारण हुई है, तो उस ही तरह मज़हबी सीमा से बनी हुई धर्मशून्य मज़हबीयत भी दूसरे देशों को नष्ट भ्रष्ट करके उसके मानने वाले देश की उन्नति का सबब हुई है। उदाहरण के लिये इतिहास हमें बतलाता है कि मुसलमानों ने मज़हबी ताक़त पर अवलम्बित मज़हबी लड़ाइयों (जहाद) के द्वारा बहुत से देशों को विजय किया। ईसाई देश भी जब कि वह अपनी मुल्की ताक़त से बनी हुई राष्ट्रीयता से उनका मुक़ाबला न कर सके तो उन्हों ने भी मज़हबीयत पर अवलम्बित सलीबी जंग (क्रुसेड, Crusade) का आश्रय लिया, ईसाई विशेष कर मुसलमान इस समय भी मज़हब से लौकिक लाभ उठा रहे हैं। इस दृष्टि से भी राष्ट्रीयता और मज़हब बराबर ही हैं। सारांश यह कि यदि एकता में बाधक भेद भाव को बढ़ाने वाले मज़हब

अथवा मतमतान्तर संसार के लिये हानिकारक हैं, तो इस में भी कोई सन्देह नहीं है कि अपने समकालीन राष्ट्रों और देशों के हितों और स्वत्वों को नाश करने वाली उनकी रक्त से रंगी और सनी हुई आधुनिक धर्म-शून्य राष्ट्रीयता अथवा जत्थेबन्दी भी संसार के लिये कभी कल्याणकारी नहीं हो सकती। अतः इस कथन में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि यदि धर्माभासी मज़हब या मतमतान्तर धर्म का स्वांग भर कर धर्म को कलंकित करते हैं, तो धर्म-शून्य राष्ट्रीयता भी अपनी कुटिल-नीति तथा धर्म-विरोधी आचार विचार से सच्ची राष्ट्रीयता को कलंकित कर रही है। क्योंकि प्रत्येक देश की राष्ट्रीयता तो वास्तव में अपने २ देश की रक्षा और उन्नति के लिये है न कि दल बन्दी से बल बढ़ा कर दूसरों को हानि पहुंचाने और लूटने के लिये। यह दूसरों को हानि पहुंचाने वाली राष्ट्रीयता अथवा दलबन्दी भी वैसी ही भयानक है जैसी कि डाकुओं की जत्था बन्दी। और यदि राष्ट्रीयता उपयोगी तथा देशोन्नति का कारण हो सकती है तो मज़हब भी मानवीय जगत के लिये हितकर हो सकते हैं। वह क्यों कर? धर्म की छत्र-छाया अथवा शासन में आकर। अर्थात् यदि सब राष्ट्र मनुष्य मात्र को परमपिता परमात्मा का पुत्र समझ कर महाभारत के इस वाक्य:—

"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"

के अनुसार सब का एक कुटुम्ब, और अपने आप को उनका एक २ अङ्ग समझें जैसा कि वास्तव में वह हैं तो जिस तरह पर

एक पिता के अनेक पुत्रों के पृथक २ परिवार होने पर भी वह सब एक दूसरे के अविरोधी और सहायक होते हुये अपने २ परिवार की उन्नति कर सकते हैं, वैसे ही प्रत्येक राष्ट्र के पृथक २ होने पर भी वह अपने २ देश की उन्नति कर सकते हैं। इसी प्रकार धर्माभासी मजहब भी मजहबीयत का चोला उतार कर सच्चे अर्थों में धर्म का अङ्गरखा पहन लें तो यह भी मनुष्यों की उन्नति का हेतु हो सकते हैं।

धर्म शून्य राष्ट्रीयता और भारतीय जात पात में समानता

यह एक निश्चित बात है कि 'जाति' वैदिक साहित्य का शब्द है। जिसका धात्वर्थ उत्पत्ति या जन्म है, इसीलिये जाति का यह लक्षण किया है:—

"आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या"

'न्याय'

अर्थात आकृति जाति का लिङ्ग है।

"समानप्रसवात्मिका जातिः"

'न्याय'

"सति मूले तद्विपाका जात्यायुर्भोगाः"

'योगदर्शन'

अर्थात् जिनकी आकृति, उत्पत्ति, भोग और आयु समान हो वह एक जाति हैं। डर्विन महोदय ने केवल बाहर की ही आकृति

या रचना अर्थात् स्तनादि वाह्य लिङ्गों की समानता को ही एक जाति अथवा एक पिता की सन्तान होने का चिह्न माना है। परन्तु वैदिक विज्ञान बतलाता है कि समान आकृति के साथ समान-प्रसव (जिनके योग से सन्तान उत्पन्न हो) समान भोग और समान आयु का होना, समान जातीयता अथवा समान जाति होनेका चिह्न है। भाव यह कि जिनकी रचना, प्रसव, भोग और आयु एक समान है उन की एक ही जाति है। जैसे सब मनुष्यों की मनुष्य जाति और सब गावों की गो जाति। इससे विदित है कि जाति जन्म-सिद्ध है कृत्रिम नहीं। और वह अपनी नैसर्गिक व्यापकता से जहां सारे मानवीय संसार को सार्वभौम भ्रातृत्व के नाते में संगठित करती है, वहां वह मनुष्य मात्र को उनकी जातीय समानता की सद्भावना द्वारा विश्व-प्रेम का सन्देश भी देती है। परन्तु खेद है कि वंशीय तथा देशीय सीमा के पक्ष-पातियों ने स्वार्थ-वश न केवल यह कि जाति शब्द के इस वैदिक सार्वजनिक श्रेयात्मक भाव को ही मिटा दिया है अपितु जाति शब्द को घृणित तथा द्वेषात्मक भी बना दिया है। अर्थात जहां वंशीय सीमा के अभिमानियों ने वंशों की सीमा से सीमित गौड़, कपूर आदि आधुनिक भारतीय अनगिनत कुलों को जातियों का निरर्थक नाम देकर मनुष्य जाति को विभक्त करने वाला अपने और बेगाने तथा ऊँच व नीच अथवा कुलीन व अकुलीन का संकीर्ण भाव भारत में उत्पन्न कर दिया है वहां देश-सीमा के अभिमानी देश-भक्तों ने भी देश की सीमा से सीमित जन

समूहों को भिन्न २ देशों की भिन्न २ जातियों का नाम देकर उनके हृदय में परस्पर के लिये द्वेष का बीज बो दिया है । इससे स्पष्ट है कि इन दोनों ने ही जाति शब्द के दुरुपयोग से मनुष्य जाति के मनुष्यत्व के व्यापक नाते को विलुप्त कर के मानवीय जगत् को अत्यन्त हानि पहुंचाई है । और इन दोनों में सिवाय इसके और कोई भेद नहीं है कि भारतीय जात पात तो देश के आभ्यन्तरिक वैमनस्य और फूट का कारण है, और देश की सीमा से सीमित धर्म-शून्य जातीयता (राष्ट्रीयता) अपने देश से बाहर संसार भर के देशों को एक दूसरे का विरोधी और शत्रु बनाती है । परन्तु आश्चर्य यह है कि धर्म-शून्य जातीयता (राष्ट्रीयता) के पक्षपाती देश भक्त वंशीय सीमा से बनी हुई गोड़, कपूर आदि भारतीय कल्पित जातियों को तो जातीय एकता का बाधक होने से भारत के अधःपतन का मुख्य कारण और देश उन्नति का बाधक समझते हैं और यथाशक्ति उनके मिटाने का यत्न भी करते हैं परन्तु वह वंशीय सीमा से कल्पना की हुई धर्म शून्य जातीयता के इस विषैले प्रभाव की ओर ध्यान तक नहीं देते कि जिसके कारण एक ही मनुष्य जाति खण्ड खण्ड हो कर परस्पर एक दूसरे का शत्रु बन गई है । और समान जातीयता तथा मनुष्यता का स्थायी नाता होने पर भी अपने विदेशी बन्धुओं से इस प्रकार का अमानुषी व्यवहार करते हैं कि पशु भी अपने सजातीय से नहीं करते । क्या मेरे इस कथन का यह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि स्वदेशी राष्ट्रीयता के पक्षपाती विदेशियों को

अपने देशके नागरिक अधिकार देने तो दूर रहे, स्वदेश में रहने और आने तक की आज्ञा भी नहीं देते। अथवा इतने प्रतिबन्ध लगाते हैं कि विदेशी का वहां पर जाना वा रहना दुष्कर होजाता है। क्या यह सभ्य कहलाने वाले उन लोगों से गिरे हुए नहीं हैं कि जिन को यह असभ्य समझते हैं, और जिनकी झूंपड़ियों के दरवाज़े विदेशियों के लिये भी खुले हुए हैं। क्या इन पर इस धर्म-शून्य राष्ट्रीयता का ही यह प्रभाव नहीं है,कि यह आप तो अपने होटलों में भारतीयों को खाने तक का अधिकार नहीं देते, परन्तु प्राचीनता के पुजारी उन भारतीयों पर आक्षेप करते हैं जो कि इन्हें अपने चौके में घुसने नहीं देते। क्या यह धर्म के विपक्षी जो कि अपने कारखानों में विदेशी विद्यार्थियों को काम सीखने की आज्ञा नहीं देते, मनुष्य जाति को उन्नत करने में उन धर्मावलम्बी प्राचीन भारतीयों की कभी भी तुलना कर सकते हैं? कि जिन्होंने मनुस्मृति के शब्दों में यह घोषणा करदी थी—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् इस देश के विद्वानों से पृथिवी भर के मनुष्य अपने २ हितकारी काम और व्यवहार की शिक्षा प्राप्त करें। 'कदापि नहीं।' इस स्थलपर यह कहा जासकता है कि मान लिया कि देशवासियों के समूह को जाति कहना अशुद्ध है, और इस समय के स्वदेशी राष्ट्रीयता के पक्षपातियों का विदेशियों से व्यवहार भी अच्छा नहीं

है परन्तु इसका यह परिणाम नहीं निकलता कि देशवासियों का संगठन ही नहीं होना चाहिये, और सच तो यह है कि स्वदेशी राष्ट्र संगठन का भाव भारतीय है ही नहीं, यह तो योरप से लिया गया है, इसलिये इस पर जाति शब्द का प्रयोग उपयुक्त न सही, परन्तु इस शाब्दिक अशुद्धिसे राष्ट्र संगठन की उपयोगिता कम नहीं हो सकती। इस के प्रतिवाद में मुझे इतना ही कहना है कि मुझे यहां पर इस समय इस विषय पर विचार नहीं करना है कि राष्ट्र-निर्माण का आरम्भ कहां से हुआ और कैसे हुआ। और न मैं राष्ट्र निर्माण का विरोधी हूँ, मुझे तो यहां पर केवल इतना ही दिखाना है कि जिस प्रकार वंशीय सीमा के आधार पर बनी हुई भारतीय कल्पित जातियें भारतीय उन्नतिमें बाधक और देश उन्नति के लिये हानिकारक हैं, उस ही प्रकार देश सीमा के आधार पर बनी हुई आधुनिक धर्म शून्य राष्ट्रीयता भी देशों की उन्नतिमें बाधक और संसार के लिये एक मुसीबत है। केवल धर्मानुकूल होने पर ही वह लाभदायक होसकती है। इसलिये लोक-उन्नति के लिये धर्म को अनावश्यक मानना भूल है। यहां पर प्रसंगवश केवल पश्चिमी विद्वानोंके आचार विचारको ही प्रामाणिक मानने वालोंके सन्तोषके लिये यह लिख देना भी उचित व उपयोगी प्रतीत होता है कि योरप में रोजो, जेकोबिन; और बेन्थम आदि जिन महापुरुषों ने योरप में राष्ट्र के निर्माण का आरम्भ किया था उन्होंने भी राष्ट्रीयता की बुनियाद मनुष्य जाति की नैसर्गिक समान जातीयताकी नींव पर बनी हुई मानुषी समानता, मानुषी स्वतन्त्रता, मानुषी

भलाई और मानुषी भ्रातृ भाव आदि धारणाओं पर ही रखी थी। इसलिये इनकी राष्ट्रीयता स्वतन्त्र थी, देश की अन्धी भक्ति से जकड़ी हुई नहीं थी। उनकी स्वतन्त्र राष्ट्रीयता (Liberal Socialism) का यह सिद्धान्त था कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी वैयक्तिक उन्नति और भलाई करता हुआ भी मनुष्य जाति की समष्टि रूप से उन्नति और भलाई कर सकता है। उनकी राष्ट्र-भक्ति आजकल की सी अर्थात् अपने राष्ट्र के लिये दूसरों का नाश करने-वाली राष्ट्र-भक्ति भी न थी। किन्तु वह किसी के राष्ट्र-भक्त होने का अर्थ ही यह समझते थे कि वह दूसरों के उन सब राष्ट्रीय अधिकारों को स्वीकार करता है कि जिनका वह अपने आपको अधिकारी समझता है।

साईन्स और बल के धर्म विरुद्ध प्रयोग का भयंकर परिणाम

इस समय साईन्स ने प्राकृतिक पदार्थों की चीड़-फाड़ करके जो अद्भुत आविष्कार किये हैं और आश्चर्यजनक चमत्कार दिखलाये और दिखला रहा है, उनके प्रभाव से प्रभावित होकर भौतिक वादी इस प्रकार के विचार प्रकट कर रहे हैं कि:—

"साईन्स ही ज्ञान और बल की प्राप्ति अथवा हर प्रकार की उन्नति का सर्वोपरि साधन है और इसी के द्वारा मनुष्यों की सब प्रकार की आवश्यकतायें पूरी होंगी और भविष्य में मनुष्य की सभ्यता, साहित्य, सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था आदि की बुनियाद भी उन

सिद्धान्तों पर ही रक्खी जायगी कि जिसका निर्णय साईन्स करेगी।"

परन्तु जहां भौतिक वादियों के यह विचार साईन्स और बल के पिछले क्रियात्मक तथा फलात्मक इतिहास के विरुद्ध हैं वहां यह प्रत्यक्ष विरोधी अनुमान से अनुमित तथा अत्युक्ति पूर्ण भी हैं। क्योंकि प्रथम तो साईन्स की गम्यता केवल कार्य जगत् के भौतिक पदार्थों तक ही सीमित है। कारण तथा आध्यात्मिक जगत् उसका विषय ही नहीं है, अर्थात ब्रह्म, जीव, प्रकृति तथा अनेक आध्यात्मिक सचाईयां ऐसी हैं जो कि साईन्स की पहुँच से बाहर हैं। उनका निरीक्षण और परीक्षण साईन्स की लेबोरेटरियों में नहीं बल्कि दार्शनिक विचारों से सुलझी हुई निश्चित बुद्धियों, आत्मा की आध्यात्मिक शक्तियों तथा अपौरुषेय ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। यह बात भी प्रत्यक्ष और निर्विवाद है कि साईन्स अथवा साईन्स द्वारा प्राप्त बल ने मनुष्यों को अत्याचारी तो बनाया है परन्तु मनुष्यों को सदाचारी बनाना उसका काम नहीं, जिसकी कि संसार को सबसे ज्यादह ज़रूरत है। यह सत्य है, कि साईन्स मानवीय जगत् की भौतिक उन्नति, भौतिक ज्ञान की सिद्धि तथा लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति का आवश्यक और अत्युत्तम साधन है, परन्तु वह भी उस ही अवस्था में जब कि उसका प्रयोग उचित अथवा धर्म पूर्वक किया जाय।

देश-भक्त ला० हरदयाल जी एम० ए० ने अपने लेख में योरप के प्रसिद्ध विद्वानों के जो निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किये हैं, उनसे भी इसका समर्थन होता है:—

"पूर्ण धर्म विज्ञान से ज़्यादा वसीह और जरूरी है। विज्ञानपूर्ण धर्म का एक जुज़व है और पूर्णधर्म रहनुमाये कामिल है, सिर्फ़ विज्ञान नहीं। ईसाई मज़हब और दीगर मज़ाहब में जो **धर्मोपदेश पाया जाता है**, उससे फ़ायदा उठाना हमारा फ़र्ज़ है। विज्ञान का फ़लसफ़ा सिर्फ़ चन्द सिद्धांतों ही की शिक्षा नहीं देता है बल्कि, धर्म का प्रचार भी करता है जिससे हमारी आत्मा शुद्ध हो और आचार निर्मल बने।" प्रो० श्यामपो (शहर मीलान)

"प्रेम और बुद्धि के आधार पर हम नयी तहज़ीब की बुनियाद डाल सकते हैं, मगर विज्ञान के साथ २ धर्म भी हमारा रहबर होना चाहिये। फ्रांसीसी मुसन्निफ़ राबेले ने खूब कहा है कि **धर्म के बग़ैर विज्ञान से आत्मा का नाश होता है। धर्म और विज्ञान मिलकर तो सारे जगत् की एकता को हमेशा के लिये कायम कर सकते हैं।**" प्रो० एम० अम्मारी जोन (शहर राबा)

तेज वीकली २१ अक्तूबर १९३५ ई०

और यदि इसका प्रयोग धर्म-विरुद्ध अर्थात् दूसरों की हानि और विनाश के लिये ही किया जायगा; जैसा कि इस समय किया जा रहा है, तो निश्चित जानिये यह उपयोगी होते हुए भी संसार की अवनति और हानि का ही कारण होगा, जैसा कि हो रहा है। यह भी ठीक है कि साईन्स द्वारा किये गये आविष्कारों से मानवीय संसार की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है परन्तु यदि उसने मनुष्य जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के पूरा करने में सुगमता पैदा की है तो इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इसके

साथ ही उसने क्रूरता, निर्दयता तथा निष्ठुरता आदि के भी नये २ साधन पैदा कर दिये हैं और इसकी कृपा से जहां मनुष्य जीवन प्राकृतिक प्रलोभनोंसे इतना भर गया है कि उसमें अहिंसा,प्रेम,दया, सहानुभूति आदि मानवीय विशेषताओं (खूबियों) का कोई स्थान ही नहीं रहा, वहां भौतिक पदार्थों अथवा भोगों की सामग्री एकत्रित करने के अतिरिक्त मनुष्य जीवन का इससे ऊँचा व पवित्र और कोई उद्देश्य ही नहीं समझा जाता। यह मेराही कथन नहीं है, किन्तु २ जनवरी १९३५ को कलकत्ते में हो चुकी 'इण्डियन साईन्स कांग्रेस' के स्वागतकारिणी के सभापति और कलकत्ता यूनिवर्सिटी के वाईस चान्सलर महोदय ने भी अपने भाषण में कहा है कि:—

"साईन्स को संसार के विनाश का साधन बनाने के स्थान में मनुष्यों की भलाई का साधन बनाना चाहिये।"

डाक्टर टैगोर महोदयने भी शान्ति निकेतन आश्रम के वार्षिकोत्सव के अवसर पर साईन्स की वर्तमान प्रवृत्ति को इन शब्दों में प्रकट किया था:—

"निस्सन्देह साईन्स ने मनुष्यों के ज्ञान को विस्तृत कर दिया है, परन्तु इसने मनुष्य जीवन के वास्तविक प्रश्न का समाधान नहीं किया। किन्तु मनुष्यों के मस्तकों में वैर विरोध तथा लड़ाई झगड़ों के भाव उत्पन्न करके, इसने संसार के वायु मण्डल को धुँधला और जीवन की समानता को नष्ट कर दिया है, इसने शक्ति को ऐसे निर्दय हाथों में एकत्रित कर दिया है जो कि सचाई और प्रेम की ओर से अपनी आंखें बन्द कर चुके हैं।"

डाक्डर टैगोर महोदयका उक्त कथन अक्षरशः सत्य है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष है, कि साईन्स ने राजनैतिक तथा आर्थिक शक्ति का कोष शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रों और पूञ्जी-पतियों के लालची हाथों में देकर संसार में लड़ाई झगड़ों और बेकारी को बढ़ा दिया है जिससे जनता में प्रतिदिन भय, दुःख और असंतोष बढ़ रहा है। अमरीका आदि अत्यन्त धनी देशों में भी बेकारों की संख्या बढ़ने के कारण साईन्स की उत्पन्न की हुई मैशीनरी ही है। और यह समानता की विघातक और असमानता की उत्पादक है। इस लिये साम्यवाद भी इसका समर्थन नहीं कर सकता। इतना ही नहीं बल्कि जो देश और राष्ट्र स्वयं दूसरों को हानि पहुंचाने के निमित्त साईन्स और बल का प्रयोग करते हैं, वह स्वयं भी उनके अनुचित्त अथवा धर्म-विरुद्ध प्रयोग के भय से काम्पते रहते हैं। और चाहते ही नहीं बलकि यत्न भी करते रहते हैं, कि साईन्स द्वारा प्राप्त किया हुआ बल कोई भी उनको हानि पहुंचाने के लिये प्रयोग में न लावे।

सज्जनो! साईन्स और बल जैसी अत्यन्त उपयोगी तथा हित साधक वस्तुओं के अनुचित प्रयोग का मुख्य कारण अधर्म रूप लोभ लालच, स्वार्थसिद्धि तथा ईर्ष्याद्वेष आदि अवगुण तो हैं ही, परन्तु इसका विशेष कारण पाशविक प्रवृत्ति का समर्थक "Might is right अर्थात् बल ही अधिकार है" का मंतव्य भी है। जिसको कि विशेष कर योरुप के शक्तिशाली राष्ट्र हिंसक पशुओं का अनुकरण करते हुए सत्य सिद्धांत और अनिवार्य

समझ कर आचरण में ला रहे हैं। क्योंकि यह पाशविक प्रवृत्ति का समर्थक सिद्धान्त निर्बलों के अधिकारों तथा सम्पत्ति के छीन लेने का पाठ पढ़ाता और लूट मार के लिये उत्साहित करता है। इस सिद्धान्त के अनुयायी गिद्धों की तरह निर्बलों का मांस नोचते, और चीलों की भांति दूसरों के हाथोंसे रोटी का टुकड़ा छीनने को झपट मारते हैं। वह हर समय बगले की भांति पर-धन तथा पर-प्राण हरण करने की ताक में लगे रहते हैं। इस सिद्धान्त की अनुगामिनी व्यक्तियें तथा राष्ट्र दूसरों को निर्बल तथा अधीन बनाने आदि नीच भावों की पूर्ति के लिये ही साधन पैदा करते रहते हैं। उनकी विद्या, बुद्धि तथा शारीरिक व आर्थिक बल दूसरों की हानि और बल के नाश करने में ही खरच होता है। यह बल व शक्ति के सदुपयोग से होने वाले सुख और शान्ति के स्थान में उनके दुरुपयोग से दुःख और अशान्ति बढ़ाते हैं। परार्थ-हानि और स्वार्थ-सिद्धि ही इनका उद्देश्य बन जाता है।

अतः जहां भी इस विघातक सिद्धान्त की प्रवृत्ति होगी वहां न्यायादि धार्मिक मर्यादाओं के लिये कोई स्थान नहीं है। इससे संसार में सदा हत्याकाण्ड का ही चक्र रहा है और रहेगा। जो व्यक्तियें, समाज और राष्ट्र इस मन्तव्य के मानने वाले होंगे वह मनुष्य समाजके अधिकारों और सम्पत्ति के रक्षक, तथा सुख और शांति के संस्थापक कदापि नहीं हो सकते। क्योंकि यदि लालची, लुटेरी व्यक्तियें दुःखों के बढ़ाने वाली और मनुष्य समाज को अहित-कर हैं तो स्वार्थी लुटेरे राष्ट्रों से भी मनुष्यों के कल्याण

और उन्नतिकी आशा नहीं हो सकती। जिन दुर्गुणों को वैयक्तिक जीवन में दूषण रूप समझा जाता है, उन ही अवगुणों को सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में भी भूषण रूप नहीं माना जा सकता। जो साधन वैयक्तिक स्वार्थ-सिद्धि के लिये निन्दनीय और पाप रूप हैं, वह राष्ट्रीय तथा देश उन्नति के लिये भी पुण्य रूप नहीं हो सकते। अतः यह Might is right की भयानक नीति मनुष्य के लिये किसी प्रकार भी कर्तव्य नहीं ठहराई जा सकती। क्योंकि यह पाशविक प्रकृति और प्रवृत्ति है मानवीय नहीं और आत्मौपम्य की नैसर्गिक कसौटी पर जांच करने से मनुष्यों के लिये अनुकरणीय सिद्ध नहीं हो सकती। अर्थात जब कि कोई भी मनुष्य अपने से बलवान् के अनुचित बल प्रयोग तथा बलात्कार आदि अत्याचार को अपने लिये पसन्द नहीं करता तो फिर वह स्वार्थ-सिद्धि के लिये अपने बल के दुरुपयोग को अपने से निर्बल के लिये कैसे उचित ठहरा सकता है।

पाठक वृन्द! यह है साईन्स और बल द्वारा की गई भौतिक उन्नति और उसके आधार पर बने हुए सिद्धान्त, सभ्यता तथा सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था का भयङ्कर परिणाम अथवा फल। इससे स्पष्ट है कि धर्म-विमुख साईन्स और बल ने संसारमें मनुष्यत्व की अपेक्षा पशुत्व को अधिक फैलाया है। इसलिये इस दृष्टि से इसने मनुष्य समाज को उन्नत नहीं अवनत किया है, सभ्य नहीं असभ्य बनाया है। क्योंकि स्वार्थवश दूसरों का नाश करना सभ्यता का लक्षण नहीं है। इसलिये नाश करने वाले

भी सभ्य नहीं हैं, बल्कि दूसरों की बरबादी तथा रक्त-पात द्वारा अपनी दुरिच्छाओं को पूर्ण करने वालों को सभ्य कहना सभ्यता का अपमान करना है। और यदि यह सभ्य हैं तो वह अफ़रीकन तथा नागा हिल (आसाम) के जंगली मनुष्य इनसे भी अधिक सभ्य क्यों नहीं हैं जो कि पशुओं और मनुष्यों को मार कर खा जाते हैं। अथवा वह जरायम पेशा मनुष्य श्रेणियें क्यों सभ्य नहीं जोकि उन की तरह ही दूसरों को लूटमार कर अपना स्वार्थ सिद्ध करती हैं। और यदि उनको इसलिये सभ्य बतलाया जाये कि यह साईन्स द्वारा मशीनरी आदि के आविष्कार करने वाले विद्वान अथवा ज्ञानी हैं तो यह बात भी सत्य नहीं है। क्योंकि यह लोग मशीनरी आदि के आविष्कारक नही हैं। यहतो केवल मशीनरी को प्रयोगमें लाने वाले हैं। मशीनरी आदि के आविष्कारक तो थोड़ेसे विज्ञान-वेत्ता विद्वान हैं। उन विद्वानों में से भी सभ्य उन ही को माना जा सकता है, कि जिन्होंने मानवीय संसार की हित-सिद्धि के लिये आविष्कार किये हैं। और जिन्हों ने केवल दूसरों के नाश करने के विचार से प्रेरित होकर आविष्कार किये हैं, वह विद्वान होने पर भी सज्जन अथवा सभ्य नहीं हो सकते क्योंकि अपने ज्ञान तथा बल को दूसरे मनुष्यों के अनिष्ट का साधन बनाना सभ्यता नहीं, असभ्यता है। यही कारण है कि रावण आदि अत्याचारियों को उनके विद्वान होने पर भी भारतीय सभ्यता व सज्जनता के इतिहास में सभ्य सज्जन नहीं बल्कि असभ्य राक्षस बतलाया गया है। और इस साईन्स द्वारा निर्मित मशीनरी पर

निर्भर सभ्यता तथा व्यवसायिक उन्नति के सम्बन्ध में योरोपियन विद्वानों की जो सम्मति है वह भी सुनिये—

(१) पाश्चात्य सभ्यता पर विचार करते हुये वैज्ञानिक शिरोमणि हैक्सले लिखते हैं:—

"Even the best of modern civilisations appears to me to exhibit a condition of man-kind which neither embodies any worthy ideal nor even possesses the merit of stability. If there is no hope of a large improvement of the conditions of the greater part of the human family, I should hail the advent of some kindly comet which wanted sweep the whole affair away as a desirable consummation.'

अर्थात् अच्छी से अच्छी आधुनिक सभ्यता भी मनुष्यों की एक ऐसी दशा की सूचना देती है, जिसके सामने न कोई आदर्श है और न ही स्थिरता। यदि मनुष्य जाति की बहु संख्या की अवस्था में किसी बड़े भारी परिवर्तन की आशा न हो, तो मैं एक ऐसे दयालु धूम्रकेतु के आगमन का अभिनन्दन करूंगा, जो आकर सारे जगत् का एक दम संहार कर दे।

(२) इङ्गलैंड के उच्चकोटि के विचारक महोदय रस्किन लिखते हैं—

"Alas! if read rightly, these perfections are the signs of a slavery in our England a thousand times more bitter and degrading than that of the scourged African or helot Greek."

अर्थात् व्यवसायिक उन्नत्ति के चिन्ह् वास्तव में इङ्गलैण्ड में एक ऐसी गुलामी के चिह्न हैं जो कि अफ्रीका और युनान के गुलामों की अवस्था से भी हज़ार गुना ज्यादह कड़वी और पतित करने वाली है।

(३) अमरीकाके प्रसिद्ध विद्वान् फ्रेडरिक हैरीसन लिखते हैं–

"To me at least it would be enough to condemn modern society as hardly an advance on slavery, if the permanent condition of industry were to be that which we behold that ninety percent of the actual products of wealth have no home that they can call their own..............."

"If this is to be the permanent arrangement of modern society, civilisation must be held to bring curse on the great majority of man-kind."

अर्थात् इस समय व्यवसाय की जो अवस्था है उस में नव्वे

फ़ीसदी धन के असली पैदा करने वाले मजदूरों के पास अपने घर तक नहीं कि जिससे उन्हें ऐसे स्थानों में रहने के लिये बाधित होना पड़ता है, जो कि पशुओं के भी रहने के लायक़ नहीं हैं। यदि वर्त्तमान समाज का यही स्थायी प्रबन्ध रहना है तो यही समझना चाहिये कि वर्त्तमान् सभ्यता मनुष्य जाति की बहु संख्या पर एक बड़ी भारी आपत्ति और शाप लायी है।

(४) भारत के सच्चे हितैषी Aryan Rule आदि पुस्तकों के लेखक हैवल महोदय भारतीयों को सम्बोधन करके यह लिखते हैं—

"None but the ignorant will recommend you the path of western commercialism as leading to true national prosperity. Nowhere in India not even in the direst time of famine is there such utter deprevity, such hopeless physical moral and spiritual degradation as that which exists in the commercial cities of Europe directly brought out by modern industrial methods."

अर्थात सिवाय उस पुरुष के कि जो अज्ञानी है तुम्हें कोई भी राष्ट्रीय उन्नति के लिये पाश्चात्य व्यवसायवाद का अनुसरण करने को न कहेगा, क्योंकि भारत में भयंकर से भयंकर अकाल के समय में भी इसके किसी भी प्रान्त में इतनी दुराचार की सीमा इतनी

निराशाजनक उपाय रहित शारीरिक नैतिक और आत्मिक अवनति नहीं पाई जाती, जितनी कि वर्त्तमान व्यवसायवाद के उपायों के कारण योरुप के व्यवसाय-प्रधान नगरों में पाई जाती है।

अतएव साईन्स द्वारा निर्मित मशीनरी तथा गैसों के दुरुपयोग को (जो कि प्रतिदिन घोर रूप धारण कर रहा है) दृष्टि में रखते हुए यह विश्वास करना तो भ्रान्त प्रतीत होता है कि भविष्य में साईन्स के निर्धारित नियमों द्वारा ही मानवी उन्नति तथा सभ्यता आदि की स्थापना होगी बल्कि इसके विपरीत इससे तो यह निश्चय होता है कि यदि यही हाल रहा तो वह समय दूर नहीं है जब कि साईन्स द्वारा प्रदीप्त की हुई प्रलय-रूपी युद्धाग्नि तथा भोगवाद की सुहावनी ज्वाला में मानवीय संसार की उन्नति, सभ्यता, सदाचार और साहित्य आदि सारी मूल्यवान् दैवी सम्पत्ति जल कर भस्म हो जायगी। और संसार श्मशान भूमि बन जायगा। संभव है कि कई एक अदूरदर्शी भौतिक-वादी मेरे उक्त कथन को केवल एक निराधार कल्पना समझें, अथवा प्रतिद्वन्द्वी की अनुपस्थिति में युद्ध का निमन्त्रण देने वाले वीर इसे एक भीरु भारतीयका स्वप्न बतलायें, परन्तु यदि वह विचार पूर्वक देखेंगे तो उन्हें मालूम होजायगा कि उक्त कथन निराधार कल्पना नहीं बलकि योरुप के सन १६१४ के सर्वसंहारी महायुद्ध और तत्पश्चात् योरोपियन सलतनतों कायुद्ध संबंधी बहुसंख्यक शस्त्र अस्त्रों का निर्माण आदि अनेक सच्ची घटनाओं पर अवलंबित सच्चा अनुमान है और साईन्स के घर योरुप के सहृदय विचारक भी इस खतरे

को अनुभव और प्रकाशित कर रहे हैं, जैसा कि इंगलेण्ड के प्रसिद्ध विद्वान एच. जी. वेल्ज़ महोदय की बनाई हुई "What is Comig" नामी पुस्तक से उद्धृत किये गये निम्न शब्दों से जाहिर है—

"आने वाले पच्चीस तीस वर्षों के अन्दर मनुष्यों का इस प्रकार विनाश होगा कि युद्ध का एक विनष्टकारी विप्लव उठेगा, सारा योरुप मृत्यु की गैस से घिर जायगा, बड़े २ वैभवशाली नगरों के निवासी बम्प्रूफ़ छतों के नीचे जीवन के अन्तिम श्वास ले रहे होंगे। सभ्यता अपने दावेदारों और संरक्षकों के विश्वासघात अथवा मित्र-द्रोह पर मातम करेगी और दुनिया ऐसी निर्जन हो जायगी कि जिसका कोई दावेदार ही नज़र न आवेगा।"

श्री लाला हरदयाल जी एम० ए० भी अपने उसी लेख में लिखते हैं कि जिसमें उन्होंने पैरिस में हुई विद्वानों की कान्फ्रेंस का हाल लिखा था—

"इसमें मिस्टर जार्ज फ्रेडमान ने फ़रमाया था कि मशीनरी और तरक्क़ी के मसले पर भी ग़ौर करना ज़रूरी है। अब मनुष्य जाति ने इतनी उमदा और ज़बरदस्त कलें इञ्जन मोटर वग़ैरह ईजाद कर लिये हैं कि इन मशीनों का दुरुस्त इस्तेमाल भी सीखना चाहिये। वर्ना आग की मानिन्द यह कलें हमारी तहज़ीब को बरबाद कर देंगी। इन कलों के ज़रिये से हर क़िस्म की पैदावार, में सैकड़ों बल्कि हज़ारों की निस्बत से ईज़ादी हो गई है। मगर हर मुल्क में लाखों मज़दूर बेकार

फिरते हैं। हवाई जहाज़ अब हमारे लिये मामूली खिलौने हो गये हैं। लेकिन इनसे जंगी बम्ब फैंक कर हम ख़ुद अपने हाथों से जान व माल को नेस्त व नाबूद करने पर फ़ख़ करते हैं। और अपने आपको मोहज़्ज़ब कहते हैं।

तेज वीकली १६ सितम्बर १९३५

यह तो है साईंस के आधार पर बनी हुई भयानक सभ्यता का राजनैतिक आचार (Character) रूपी फल और उसके सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों की सम्मति, अब इस भोगवाद की सभ्यता के प्रभाव से बने हुए वैयक्तिक और सामाजिक आचार व्यवहार की कथा भी योरुपियन सज्जनों के ही मुख से सुनिये—

(१) पिलग्रिम मैसिन्जर (Pilgrim Messenger) के एडीटर डबल्यु बी क्रोज लिखते हैं—

"हालत दिन बदिन ख़राब होती जा रही है। इस वक़्त के वायु मण्डल में जो स्याही देखी जा रही है, वही एक दिन बढ़कर क़यामत ख़ेज़ तूफ़ान (प्रलयकारी विप्लव) की शकल इख्तियार करेगी। ऐसा शक करना बिला वजह नहीं कहा जा सकता। कैरेक्टर, (Character आचार) बोल-चाल, और ख़ासकर नोजवान लड़कियों की पोशाक में मतान्त (स्थिरता) व शराफ़त के आसार मिटते दिखाई देते हैं।"

(२) क्रिश्चियन सन (Christian Son) के एडीटर ने लिखा है—

"कुछ अर्से से तबदीली की रफ़तार इतनी तेज़ होती जा

रही है कि मालूम होता है नौजवान तबक़ा (श्रेणी) तबाही की तरफ़ बढ़ रहा है। नौजवान लड़कियों के लिबास की तरफ़ निगाह डालने से आंखें बन्द कर लेनी पड़ती हैं। इस तरह की पोशाक के बाइस औरत मर्दों की श्रद्धा व इज्जत से महरूम हो रही है।"

(३) बैप्टिस्ट रेकार्ड (Beptist Record) के एडीटर मिस्टर लपहेमन ने लिखा है—

"पुराने जमाने में फ्रांस की बदचलन औरतें इस तरह नाकाफ़ी कपड़े पहिन कर मर्दों के दिल में भोग की आग भड़काने की कोशिश किया करती थीं। लेकिन आज शरीफ़ तबक़े में भी वही पोशाक बिला झिझक रायज हो रही है। इससे बढ़कर शर्म और अफ़सोस की बात और क्या हो सकती है ?

(४) पिटस बर्ग औबज़र्वर Pitts Burgh Observer के एडीटर सेम्बेलबर्न ने लिखा है—

"चन्द सालों के अन्दर ही मोहज्ज़ब सोसाइटी के अन्दर बहुत सी ग़ैर पसंदीदा तबदीलियां देखी जा रही हैं। औरतों की पोशाक नाचरंग, बात-चीत, बाहम मिलना जुलना यहां तक कि नीति और सदाचार के मामले में भी उनके ख़्याल में एक-दम तबदीली हो गई है। इसका सबब यह है कि मां बाप और सरपरस्त असहाब लड़के लड़कियों पर नज़र नहीं रखते। इस ताल्लुक़ में उनकी जो ज़ुम्मेवारियां हैं उनकी

जानिब वह इन्तहाई मायूसी ज़ाहिर करते हैं। नाकाफ़ी कपड़ों के बाइस औरतों के जिस्म के बहुत से अंग नंगे रहते हैं। इन सब नंगे अंगों की तरफ़ राह चलने वालों की लालची निगाह फ़ौरन खिंच जाती है। फिर भी इस तरह के लिबास में अवाम के दरमियान चलते-फिरते हुए लड़कियों को कभी भी झिझक महसूस नहीं होती। क्या इससे यह समझा नहीं जा सकता कि उनमें शर्म व हया का माद्दा बिल्कुल नहीं रह गया। औरतों की मण्डली में जो शब्द ज़बान तक से निकालने में शरीफ़ आदमियों को शर्म मालूम पड़ती थी इस वक़्त नौजवान तबक़ा में लड़के लड़कियों की वह सब बातें बिला रोक टोक चल रही हैं। मर्द और औरत की जवानी का रिश्ता, औरत के हुस्न पर डाका डालने की चर्चा, नौजवान जोड़ों का बिला झिझक मेल जोल, एक साथ गुस्ल वग़ैरह में भोग की ख़्वाहिश ज़रूर ही जाग उठती है। इस ख़्वाहिश की लहर में मर्दानगी शराफ़त, इनसानियत, पाकबाज़ी मासूमियत (निष्पाप वृत्ति) ग़रज़ेकि सब कुछ डूबा जा रहा है। फ़ैशन की गुलामी में पड़कर तबाही के रास्ते पर दौड़े जा रहे हैं। इस तरफ़ लड़के लड़कियों और उनके सरपरस्तों की तवज्जुह कुछ भी नहीं है।"

(५) लूथरीन अख़बार के एडीटर ने लिखा है—

"नौजवान तबक़ा में ख़ुद मुख़्तयारी की आदत बढ़ रही है। पुराने आदर्श (जिसकी तामील हर मुमकिन तौर से होनी

चाहिये) के खिलाफ़ नोजवानों में एक जबर्दस्त जज़बा पाया जाता है। जो गुण जो त्याग इन्सान को अरमों से नेक बनोते चले आ रहे हैं, उन्हीं गुणों का इस वक़्त नौजवान तबक़ा में मज़ाक़ उड़ाया जाता है। औरतों की पोशाक इतनी थोड़ी हो चली है कि इससे जिस्म के कुछ हिस्सों को ही ढका जा सकता है। पेटेंट पाउडर वग़ैरह लगाकर हुस्न को नशाआवर बनाये रखने के लिये नोजवान लड़कियां बेक़रार रहती हैं। इसके अतिरिक्त शराबख़ोरी और तम्बाकू नोशी की आदत भी बहुत बढ़ गयी है। इन लड़कियों के साथ नौजवान तबक़ा साया की तरह पीछे लगा रहता है। इनके हुस्न और जवानी की तारीफ़ करता है और उसका काम होता है जवान लड़की के होठों से हया का पाकीज़ा रंग छीन कर दूर फेंक देना और उसकी जगह पर जलता हुआ अंगारा रख देना। ज़िन्दगी के जितने ऊँचे आदर्श हैं उन सबको पसे पुश्त डाला जा रहा है। ज़िन्दगी इस लिये नहीं है कि इसे हक़ीर समझ कर पागलपन का शिकार होने दिया जाये...............
.........इस बात को वह सुनना तक नहीं चाहते।"

(६) The Review and Exposition दी रिवीयू एण्ड एक्सपोज़ीशन के एडीटर मिस्टर वेमन रोबर्ट ने लिखा है—

"आजकल नौजवान तबक़ा खुले दिल से फ़ख़रिया तौर पर अपनी बदलगामी का और ख़ुद मुख़्तियारी का इक़बाल कर रहा है। नतीजा यह है कि जंगली ज़माने की

तरह नोजवान तबक़ा नोजवान लड़कियों के शिकार में फिरता रहता है और लड़कियां भी अपने हुस्न, अपनी जवानी और मुसकराहट की क़ीमत लगाकर उन्हें बाज़ारी चीज़ों की तरह अवामुन्नास के सामने पसार कर रख देने के लिये बेक़रार हो उठी हैं। दिल व जिस्म की खालिस पाकीज़गी तो आज गोया अफ़साना की चीज़ रह गई है।"

(७) ज़नाना कालिज के इन्सपेक्टर और Smith स्मिथकालिज मेगज़ीन के लायक़ एडीटर एलस्पार्कर ने अपनी राय यह लिखी है—

"इस वक़्त के नौजवान तबक़े में मालूम पड़ता है पागल-पन जाग उठा है। नाच, शराबखोरी और तम्बाकू नोशी में उसकी दिलचस्पी की हद नहीं रह गई है। उसकी शराफ़त और संयम की सिफ़त पर रायज़नी करना फ़ज़ूल समझकर बहुत से लोग मायूस हो गये हैं। क्योंकि इस रायज़नी का कोई नतीजा नहीं निकलता। जिसकी भलाई के लिए यह सब बातें कही जाती हैं वह इन बातों को सुनना ही नहीं चाहता। आलम जवानी में क्या मर्द क्या औरत जवानी की हक़ीक़त जानने के लिए बहुत दिलचस्पी ज़ाहिर करते हैं।......... इस क़िस्म की वाक़फ़ियत जिन हयासोज़ तरीक़ों से हासिल की जाती है, उसके लिए शर्म महसूस करना तो दूर रहा उल्टा फ़ख्र महसूस करते हैं।"

(८) पब्ल बोल पन्सलेवियो युनिवर्सिटी के आर्गन के एडीटर मिस्टर वाड ने लिखा है—

"आजकल के नौजवान लड़के लड़कियां ज़िन्दगी को इनक़लाब की नज़र से देखते हैं। उन्हें बड़ा फ़ख़्र इस बात का है कि दुनिया की किसी बात से वह नावाक़िफ़ नहीं हैं। इस वक़्त लड़के लड़कियों का बिला रोक टोक मिलना, और इकट्ठे रहना, तम्बाकू-नोशी, शराब-ख़ोरी और जवानी से सम्बन्धित बातचीत में बहुत दिलचस्पी लेना, इन सब बातों को ज़िन्दगी का जुज़्व समझा जा रहा है। कोई भी नौजवान लम्हाभर की वाक़फ़ियत और मेल जोल के बाद किसी नौ-जवान लड़की का बोसा ले सकता है और वह इसकी हरकत को नापसन्द नहीं करती।..................यह क़ुदरती बात समझी जाती है। शरीफ़ घरों की सत्तर अस्सी फ़ीसदी लड़कियां बिना झिझक सिगरेट पीती दिखाई देती हैं और नाच का शौक़—इस शौक़ में तो बेहयाई की कोई हद ही नहीं है। लड़कियों का निहायत बारीक लिबास और नाच रंग में उनकी हरकात को देखकर तो दान्तों तले अंगुली दबा कर रह जाते हैं। नौजवान लड़कियों का बिल्कुल नावाक़िफ़ लड़कों के साथ बिल्कुल आज़ादाना मेल जोल तो सचमुच नाक़ाबिले बर्दाश्त हो उठा है। मज़बूत कैरेक्टर बनने के पहिले ही जवान लड़के लड़कियों का एक साथ कालिजों में पढ़ना, और लड़कियों का आज़ादाना तौर से रोज़ी कमाना, इन दो बातों से भी इख़लाक़ी आदर्श पर कम चोट नहीं पड़ रही है।....................जिस्म के नङ्गे हुस्न की

नुमायश करने की ख्वाहिश आजकल की औरतों में ख़ास तौर से पाई जाती है। इस तरह की बेशर्मी से दिल और ज़मीर की ख़ूबसूरती ज़ाइल हो जाती है।" इत्यादि।

(९) ला कालिज के प्रिन्सिपल मिस्टर हेरीगेज ने लिखा है—

"आजकल के नौजवान लड़के और लड़कियां ज़ब्त किसे कहते हैं, जानते ही नहीं हैं। ख़ुदमुख़्तारी बेशक अच्छी चीज़ है लेकिन हद से ज्यादा खुदमुख़्तारी बदतहज़ीबी और बेशऊरी का ही दूसरा नाम है।"

(१०) गुडिङ्ग कालिज अमरीका का एक मशहूर ज़नाना कालिज है इस कालिज की प्रिन्सिपल मिसेज़ ईमा बिज़ो लिखती हैं—

"हमारा तमाम सोशल नज़ाम (सामाजिक व्यवस्था) हो इस वक़्त बिगड़ा हुआ है। इसके लिए नौजवान तबक़ा क़सूरवार नहीं है। सोसायटी में जो ख़यालात की लहर चल रही है उसमें यह नौजवान लड़के लड़कियां जिन की अक़्ल तालीम और तजुरबे से पूरी तरह अभी पकी नहीं है, डुब-कियां नहीं लगायेंगे तो क्या करेंगे ? सोसाइटी में पाप की हद नहीं है। नौजवान जोड़े नाच रंग में ग़लतान हो रहे हैं। तैरने के तालाबों में इनकी किस क़दर भीड़ लगी रहती है। मोटर पर सैर, लगातार एशपरस्ती, इन सब बातों से कोई ज़ब्त की तालीम किस तरह हासिल कर सकता है। इस के ऊपर सेनिमा की तस्वीरों में मर्द औरतों की मुहब्बत के

दृश्य, नङ्गे जिस्म की खुली नुमाइश, इन सब को देखने से इन्सान के दिल में हेवानी जज़बात पैदा हुए बग़ैर नहीं रह सकते। इसके बाद एक अदबी जमायत नाविलों, अफ़सानों, (कहानियों) नाटकों के ज़रिये अय्याशी और बदचलनी का प्रचार कर रही हैं। इसका नतीजा यह हो रहा है—बहुत कम लिबास, नङ्गा जिस्म, अय्याशी की ज़िन्दगी, सोसाइटी के आम क़ायदों व ज़ाबतों की खिलाफ़ वर्ज़ी, जवान लड़के लड़कियों में बिना रोक टोक मिलने की ख़्वाहिश में इज़ाफ़ा, मज़हबी रुझान की कमी, क़त्ल, चोरी, डकैती, जालसाज़ी, यतीमखानों में यतीम बच्चों की तादाद में इज़ाफ़ा और तलाक़ की भरमार।

कान्ति लाहौर जुलाई १९३५

इतना ही नहीं बल्कि अब तो साईन्स के आधार पर बनाई गई वर्तमान भोगवाद की भयानक सभ्यता से पीड़ित योरुप निवासी इतने तंग आ गए हैं कि अमरीका और इङ्गलैण्ड आदि देशों के लिखे पढ़े सभ्यों—जिनमें डाक्टर, बैरिस्टर, अध्यापक और मेम्बर पार्लियामेण्ट भी सम्मिलित हैं—ने भी उक्त सभ्यता के प्रतिक्रिया रूप में बिल्कुल नङ्गा रहना, कन्दमूल और फल खाना आरम्भ कर दिया है। और दिन प्रति दिन वहां पर यह आन्दोलन लोकप्रिय होता जा रहा है तथा नंगों की संख्या बढ़ती जा रही है और योरुप के विद्वानों की ओर से रिटर्न टु नेचर (Return to Nature) जैसी पुस्तकें लिखी जा रही हैं।

जिनमें योरुप की विद्यमान भोगवाद की सभ्यता को बीमारियों, पापों, आपत्तियों और दुःखों का घर बतलाते हुए सृष्टि आरम्भ काल के मनुष्यों का सा कुदरती जीवन व्यतीत करने का प्रचार किया जा रहा है, जो कि उनके शब्दों में इस प्रकार है—

> "Man, the pure image of God, was in the beginning without sin and sickness, trouble and misery."
>
> (Return to Nature)

'अर्थात् मनुष्य जो कि परमात्मा की एक पवित्र मूर्ति है वह सृष्टि-आरम्भ में पाप-रहित, दुःख-रहित और आपत्ति-रहित था।' इसके अतिरिक्त जहां साईन्स की उत्पन्न की हुई मशीनरी के जहरीले धूयें और शोर शराबा से प्रतिदिन मानवीय संसार का स्वास्थ्य बिगड़ता चला जा रहा है वहां साईन्स द्वारा बनाये गये कृत्रिम पदार्थों अथवा खान-पान आदि की वस्तुओं के प्रभाव और प्रलोभन ने मनुष्यों को सादा, सुखदायक, नैसर्गिक जीवन व्यतीत करने से हटा कर, विलासिता का दुःखदायक कृत्रिम जीवन व्यतीत करने में प्रवृत्त कर दिया है, जिससे आये दिन उनमें दुःखों और रोगों की वृद्धि होती जा रही है और जिनको दूर करने के लिये साईन्स के ही एक विभाग मेडिकल साईन्स ने इसके विरुद्ध मनुष्यों को यह परामर्श दिया कि "यदि वह दीर्घ आयु, स्वस्थता और सुख का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो उन्हें मशीनरी के शोरोगुल को बन्द कर

देना चाहिये। और साईन्सद्वारा बनाये गये अनेक कृत्रिम लोभायमान पदार्थों को छोड़कर कुदरती चीज़ों अर्थात् शुद्ध अन्न, ताज़ा फल, ताज़ी सबजियें और ताज़ा दूध आदि को अपना आहार बनाना चाहिये। मशीन के पिसे हुए आटे को छोड़कर चक्की का मोटा पिसा हुआ आटा खाना चाहिये। मशीन के साफ़ और पालिश किये हुए चमकीले चावलों और खाण्ड के स्थान में उखलियों से साफ़ किये हुए चावल और गुड़ का प्रयोग करना चाहिये इत्यादि। क्योंकि गेहूँ और चावल आदिकों में भोजन का जो वास्तविक बल-कारक अंश विटामीन है, मशीनें उसको नष्ट कर देती हैं। इससे स्पष्ट है कि साईन्स के आधार पर बनी हुई आधुनिक सभ्यता और व्यवस्था मनुष्य समाजके लिये उपयोगी नहीं—अनुपयोगी, सुखकर नहीं—दुःखकर सिद्ध हुई है। बल्कि आधुनिक साईन्स की जन्म-भूमि योरप स्वयं अपनी अवस्था और ज़बान से यह कह रहा है कि उक्त सभ्यता उसके लिये भी असह्य हो रही है।

जैसा कि निम्न लिखित उद्धरणों से विदित है। लार्ड सीसिल ने २७ जून १९३५ अलबर्ट हाल (लण्डन) में बहुत बड़े जन समूहके सामने बरतानी जनताकी निम्न सम्मति की घोषणा की:—

"(मेरे किये हुये प्रश्नों के) लगभग १२००००० (एक करोड़ बीस लाख) व्यक्तियों ने उत्तर दिये। उनमें से अत्यधिक संख्या की यह सम्मति है कि लीग आव नेशन की मेम्बरी जारी रक्खी जाय। सारी दुनिया के शस्त्र-अस्त्रों में कमी की जाय। जंगी हवाई जहाज़ तो बिलकुल समाप्त कर दिये जायें। शस्त्र बनाने के वैयक्तिक व्यापार को

बन्द कर दिया जाये। और युद्ध के लिये पहल करने वाले देशों के विरुद्ध कारवाई की जाय। तेज (देहली) १ जुलाई १९३५,

श्री महाशय चमनलालजी जर्नलिस्ट अमरीका से लिखते हैं:-

"गान्धी जी ही केवल वह व्यक्ति हैं जो दुनिया को बचा सकते हैं। क्योंकि आज दुनिया फिर रक्त से स्नान करने के लिये उद्यत है। गान्धीजी पर ही संसारकी आशायें निर्भर हैं।" यह हैं वे भावनायें जो कि अमरीकाके प्रत्येक स्थानके निवासियों में पाई जाती हैं। अपने एक मास के अमरीका निवास से मैंने विशेषरूप से यह अनुभव किया है कि अमरीका में जितने अहिंसा के मानने वाले हैं, शायद भारत में भी इतने न होंगे, चाहे आप शहर से दूर ग्रामों में किसी किसान से मिलें, अथवा शहर के अपने कारोबार में संलग्न किसी व्यापारी व गिरजाघर के पादरी से मिलें, युनिवर्सिटी के विद्यार्थी, पत्र संपादक या सरकारी अफ़सर से मिलें, किसी होटल के कर्मचारी या बूट पालिश करने वाले से मिलें, अथवा जिससे भी मिलें वह पहिला प्रश्न यह ही करेगा, कि साधु गान्धी कैसे हैं.........जब से युद्ध के विरुद्ध आन्दोलन का आरम्भ हुआ है, गान्धी जी से (युरपियन जनता की) दिलचस्पी प्रति दिन बढ़ती जाती है। विशेष कर विद्यार्थियों को तो महात्माजी और उनके अहिंसा धर्म पर पूरा विश्वास और भरोसा है। जब कभी मैं किसी युनिवर्सिटी में गया तो लड़के और लड़कियों सबने मुझसे इच्छा प्रकट की कि मैं भारतीयों तक उन का यह सन्देश पहुंचा दूं कि "वह अपने अहिंसा आन्दोलन के द्वारा संसार में शान्ति स्थापन करने के अद्भुत तर्जुबे को स्थगित न करें।" तेज (देहली) १ जुलाई १९३५.

यह हैं वह आशायें जो धर्म प्रधान देश भारत और उसके निवासियों से संसार लगाये बैठा है। अतः यह पूर्ण आशा है कि साईन्स की नींव पर स्थापित वर्तमान भोगवाद की भयानक सभ्यता से दुःखित और पीड़ित संसार को विवश होकर वैदिक सभ्यता को ग्रहण करना होगा। अथवा अपनी सभ्यता की नींव साईन्स के निर्णीत सिद्धान्तों पर नहीं बल्कि मनुष्यत्व अर्थात् अहिंसादि धार्मिक मर्यादाओं व उपयोगिता पर रखनी होगी, क्योंकि इसके बिना संसार में सुख, शांति, व्यवस्था और न्याय की स्थापना कदापि नहीं हो सकती। मुझे तो इस कथन में भी कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती कि जिस प्रकार वर्तमान अजायबघरों में रखे हुए जंगली असभ्यों के खूंख़ार हथियार उनकी असभ्यता को प्रकट करते हैं, समय आयेगा कि उसी प्रकार भावी अजायबघरों में आधुनिक साईन्स के उत्पन्न किये हुए भयानक शस्त्र-अस्त्र और गैसें रखी जायेंगी और उनसे दूसरों का नाश करने वाले सभ्यों की असभ्यता प्रकट होगी, और जनता उनसे घृणा करेगी।

स्वतन्त्रता नवीनता तथा परिवर्तन का वास्तविक-स्वरूप और उनकी उपयोगिता

इस समय भारत में भी नवयुवकों की एक ऐसी श्रेणी बन रही है, जो कि स्वतन्त्रता, नवीनता तथा परिवर्तन को मानवीय उन्नति का आवश्यक साधन मानती है, बल्कि यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि स्वतन्त्रता, नवीनता तथा परिवर्तन उसका गुरु-मन्त्र है। उसकी मानी हुई स्वतन्त्रता और उच्छृङ्खलता में कोई भेद प्रतीत

नहीं होता, क्योंकि उनके सदस्य जन्म-सिद्ध स्वतन्त्रता के आवेश में अपने ऊपर किसी भी प्रकार के बन्धन रखने के विरुद्ध हैं। सभा, समाजों के नियमों का मानना भी उनके नजदीक बन्धन और दासता है। यहां तक कि ईश्वर और उसके नियन्त्रण तथा धर्मका मानना भी उन्हें अपनी स्वतन्त्रामें बाधक अथवा परतन्त्रता का कारण प्रतीत होता है। प्राचीनता के भी यह लोग कट्टर विरोधी हैं। उनकी परिभाषा में उस मनुष्य को आज़ाद ख़याल अथवा स्वतन्त्र विचारों का समझा और कहा जाता है जो कि किसी भी प्रकार के स्वतन्त्र विचारोंको मानने का पाबन्द न हो। उनका मत है कि "चूँकि समय के प्रभावसे प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है और हर एक नयी चीज़ पुरानी से उन्नत और अच्छी होती है इसलिये सारे ही पुराने ख़यालात, पुरानी पुस्तकें और पुरानी सभ्यतायें बेकार और निस्सार हैं। इनको छोड़ कर नवीन विचारों, नवीन लिटरेचर (साहित्य) नवीन कलचर (संस्कृति) को ग्रहण करना चाहिये।" इनके इस प्रकार के विचार न तो किसी सभा-समाजके निर्धारित किये हुये हैं और न ही उनके अपने गंभीरता-पूर्वक विचार करने का यह परिणाम है। बल्कि इनका विशेष कारण तो इस समय का वायुमण्डल प्रतीत होता है। अर्थात् जगत्-व्यापिनी क्रान्ति द्वारा संसार के राष्ट्रों में जो अदल बदल हो रहा है, उस का, तथा उनके उन्नत माने हुये भोगवादी पश्चिमी देशों के निवासियों के आचार विचार का प्रभाव भी इन पर पड़ा है। पुराने विकासवाद के परिणाम तथा क्रमशः

उन्नति के सिद्धान्त ने भी इनके इस प्रकार के संस्कार बनाने में काम किया है। यह भ्रान्तात्मक स्वतन्त्रता अथवा उच्छृँखलतावाद के जजबात से उत्तेजित, देश उन्नति के आवेश में मुग्ध और क्रान्ति काल के उत्साह से उत्साहित भी हैं। जिनका अवश्यंभावी फल इनके इस प्रकारके विचारों का बनना है। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं है, कि इनके उक्त विचार बड़े सुन्दर मधुर और मनोहर प्रतीत होते हैं, और जो नवयुवक, विदेशी राज्य की दासता से दुःखित, साम्प्रदायिक झगड़ों तथा भ्रान्तात्मक विचारों व आचारों से खिन्न हैं यह उनको विशेष रूप से आकर्षित भी करते हैं। और यह भी ठीक है कि स्वतन्त्रता, नवीनता और परिवर्तन साधन रूप से मनुष्य समाज के लिये बड़े उपयोगी और हितकर भी हो सकते हैं, यदि उनके प्रयोग का वास्तविक ज्ञान हो और उनका प्रयोग उचित व आवश्यकतानुसार किया जाय, अतएव उनके धर्मपूर्वक अथवा यथावत् प्रयोग के लिये प्रथम यह जानने की आवश्यकता है कि मनुष्य स्वतन्त्र भी है या नहीं। यदि स्वतन्त्र है तो उस की स्वतन्त्रता स्वाभाविक है या नैमित्तिक, अथवा सिद्ध है या साध्य, परिमित है या अपरिमित। वैदिक विज्ञान के पण्डितों का निश्चय है और यह युक्तियुक्त व अनुभवसिद्ध भी है, कि आत्मा और मानवीय शरीर के संयोग का नाम मनुष्य है। और ज्ञान व प्रयत्न आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। और उनको व्यवहार में लाने के साधन मानवीय शरीर में ज्ञान व कर्मेन्द्रियां भी मौजूद हैं। जिसका यह

प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मनुष्य सोच विचार सकता है और इच्छापूर्वक कर्म भी कर सकता है। और मननशील कर्ता, अथवा सोचने विचारने तथा इच्छापूर्वक कर्म करनेवाला व्यक्ति अवश्य स्वतन्त्र होता है इसलिए यह निश्चित है कि मनुष्य स्वभावतः स्वतन्त्र है, परन्तु इस की यह स्वतन्त्रता परिमित है, क्योंकि मनुष्यकी आत्मा अल्प व परिमित है। इसलिये उसके स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न भी अल्प और परिमित हैं। और उसके ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक प्राकृतिक साधन अन्तःकरण तथा ज्ञान और कर्मेंद्रिय आदि सब ही शारीरिक कारण भी अल्प व परिमित हैं। इसलिये आचार, विचार और स्वतन्त्रता आदि सारी मानवीय शक्तियां भी अल्प और ससीम हैं। और उक्त परिमित साधनों द्वारा प्राप्त की हुई नैमित्तिक स्वतन्त्रता व उन्नति भी परिमित ही होती है। और किसी वस्तु के परिमित होने के अर्थ ही यह हैं कि वह बद्ध या बन्धन-युक्त है। मनुष्य के बन्धन युक्त तथा उसकी नैमित्तिक स्वतन्त्रता के पुरुषार्थ सिद्ध होने का प्रमाण यह है, कि मनुष्य में बन्धन से छूटने और स्वतन्त्रता प्राप्ति की इच्छा विद्यमान है और उसके लिये वह यत्न भी करता है। धर्मवादियों तथा दार्शनिकों ने भी नैमित्तिक स्वतन्त्रता को मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य व पुरुषार्थ सिद्ध माना है जिसको वह अपनी परिभाषा में मोक्ष और निजात कहते हैं। बन्धनों और दुःखों से छूटने व सुख प्राप्त करने का नाम ही मोक्ष या अपवर्ग है जो कि मानवी स्वतन्त्रता और उन्नति की पराकाष्ठा है। यदि मनुष्य बन्धन में न होता, और उसकी

अभीष्ट स्वतन्त्रता स्वरूप-सिद्ध व जन्म-सिद्ध होती तो न तो मानवीय संसार में परतन्त्रताका अस्तित्व होता और न ही मनुष्य बन्धन से छूटने और स्वतन्त्रता प्राप्तिके लिये यत्न करता। क्योंकि यत्न अप्राप्त के लिये ही किया जाता है प्राप्त के लिए नहीं। प्राप्त की प्राप्ति का यत्न तो उन स्वरूप-सिद्ध अथवा नित्य-प्राप्त मुक्ति के मानने वाले अद्वैत वादियों के मत में ही माना जा सकता है, जो कि ब्रह्म के भी एक अंश में अज्ञान मानते हैं और स्वयं अज्ञानी, दुखी, बद्ध, एकदेशी तथा आनन्द के जिज्ञासु होते हुए भी अपने आप को शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त, व्यापक और आनन्द स्वरूप समझते हैं।

इसके अतिरिक्त मानवीय प्रकृति के अध्ययन से यह भी सिद्ध होता है, कि मनुष्य का शरीर प्राकृतिक होने से, जहां वह प्राकृतिक नियमों के बन्धनमें बंधा हुआ है, वहां मननशील और सामाजिक व्यक्ति होने के कारण उसके विचार आचार पर मनुष्यत्व अथवा धर्मके और सामाजिक व राजनैतिक बन्धन भी लगे हुए हैं। अर्थात् जन्म लेने न लेने तथा विशेष योनि व जातिमें जन्म लेनेमें भी वह स्वतन्त्र नहीं है, बाल, वृद्ध और बीमारी आदि अवस्थाओं तथा जीवन निर्वाह सम्बन्धी समस्त वस्तुओं की उपज के लिये भी वह दूसरों के अधीन है। सुख दुख के भोग में भी परतन्त्र है। बिना पढ़ाये सिखाये कुछ जान और सीख भी नहीं सकता। इत्यादि प्रकार से जो मनुष्य अशक्त, परतन्त्र और पराधीन है उसकी स्वतन्त्रता भी उतनी ही है जितनी कि पिञ्जरे में बन्द एक पक्षी की। यही

कारण है कि मानवीय प्रकृति के वैदिक विद्वानों ने न केवल पशु पक्षी आदि तिर्यग् योनियों को ही बल्कि मनुष्य योनि को भी बन्धन माना है। भारत के प्रसिद्ध निर्वासित देश-भक्त श्री लाला हरदयाल जी एम. ए. का निम्न लिखित वाक्य भी इसका समर्थन करता है—

> "इनसान क्या है, इनसान उन क़ैदियों की तरह हैं जिनको जेलख़ाना के सिर्फ़ सहन में टहलने की इजाज़त है।"
>
> हिन्दू, लाहौर प्रथम जुलाई १९३५

यह ठीक है कि आत्मा के ज्ञान और प्रयत्न-शील, व ज्ञान और कर्मेन्द्रिय रूपी साधन-सम्पन्न होने के कारण मनुष्य यथाशक्ति सोचने और करने में स्वतन्त्र है परन्तु सोचना और करना भी शुभ और अशुभ, श्रेयस्कर और भयंकर होता है। अर्थात् मनुष्य शुभ और श्रेयस्कर भी सोच और कर सकता है और अशुभ तथा भयंकर भी। परन्तु इस पर भी मनुष्यत्व अथवा धर्म की दृष्टि से यह देखना होता है, कि मनुष्य को सोचना और करना क्या चाहिये? शुभ और श्रेयस्कर या अशुभ और भयंकर। इसका उत्तर सभ्य समाज की ओर से यही दिया जा सकता है कि किसी भी नागरिक को अशुभ और भयंकर काम नहीं करना चाहिये। इसका अभिप्राय साफ़ है कि मनुष्य के सोचने और करने पर भी सभ्य संसार की ओर से मनुष्यत्व अथवा मनुष्य जीवन की मर्यादा पद्धति रूप धर्म के बन्धन लगे हुए हैं। यह और बात है कि कोई उच्छृँखलता को

ही स्वतन्त्रता मानने वाला व्यक्ति बन्धन माने या न माने, परन्तु इससे न तो वह स्वतन्त्र अथवा बन्धन से मुक्त हो सकता है और न ही अपने किये की सज़ा से बच सकता है। यदि वह सृष्टि-नियम के विरुद्ध आचरण करेगा तो सृष्टि नियम और राज नियमों के भंग से राजा तथा सामाजिक नियमों के विपरीत आचरण से समाज की ओर से अवश्य दण्ड मिलेगा। और शारीरिक धर्म के विरुद्ध आचरण करने पर भी विवश होकर कष्ट भोगना पड़ेगा। क्योंकि किसी व्यक्ति के स्वतन्त्र होने का यह प्रमाण नहीं है कि वह स्वयं अपने आपको स्वतन्त्र मानता और कहता है या किसी प्रकारके बन्धन नहीं मानता। बल्कि स्वतन्त्रा के जानने की कसौटी वह है जो कि महात्मा ईसा ने बतलाई है, अर्थात् "दरख़्त अपने फल से पहिचाना जाता है।" इसलिये देखना यह होगा कि स्वतन्त्रता का फल या लिङ्ग क्या है? और वह स्वतन्त्रतावादी के जोवन में मौजूद है वा नहीं। स्वतन्त्रता का फल मनु के इस वाक्य में बतलाया गया है।

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्।

अर्थात् परतन्त्रता का फल दुःख और स्वतन्त्रता का फल सुख है। इसलिये इस कसौटी के अनुसार हम कह सकते हैं कि जो व्यक्ति दुःखी है वह स्वतन्त्र और बन्धन रहित नहीं है। जितनी मात्रा में उसे दुःख है उतनी मात्रा में ही वह परतन्त्र है, और जब तक उसमें दुःख रहेंगे, तब तक वह परतन्त्र रहेगा।

केवल अपने आप को स्वतन्त्र मानने मात्र से कोई बन्धन से रहित नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त मानवीय जगत को अपने विचार आचार तथा साहित्य आदि में भी परिवर्तन करने की आवश्यता होती है। और उसके बिना भी उसका कार्य उत्तमता से नहीं चल सकता। परन्तु इसके यह अर्थ नहीं हैं कि बिना आवश्यकता व प्रयोजन के ही परिवर्तन किया जाय, अथवा प्राकृतिक पदार्थों में होने वाले स्थिर परिवर्तन के अनुकरण में मनुष्य अपने प्रत्येक विचार आचार आदि में भी बिना प्रयोजन सदा ही परिवर्तन करता रहे। यदि ऐसा किया जायगा तो मनुष्य के विचार आचार आदि सभी क्षणिक हो जायेंगे। और उनमें स्थिरता का अभाव हो जाने से उन पर कुछ भी विश्वास और निश्चय न रहेगा। और उनके द्वारा किसी कार्य्य व उद्देश्य की भी सिद्धि न होगी। मानवी तथा प्राकृतिक जगत् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वस्तुतः मनुष्य के अन्दर तीन प्रकार से परिवर्तन होते हैं। एक तो प्राकृतिक नियमों के अनुसार उसके भौतिक शरीर में परिवर्तन होता है जो कि सदा स्वयं होता रहता है। न तो मनुष्य को उसके लिये कुछ प्रयत्न करना पड़ता है और न ही मनुष्य उस परिवर्तन को रोक सकता है। दूसरा समय के प्रभाव से होने वाला परिवर्तन है। अर्थात् जिस प्रकार वसन्तादि ऋतुओं में वनस्पति आदि में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार मनुष्यों के विचार आचार में भी समय के प्रभाव से परिवर्तन होता है। जैसा कि इस क्रान्तिकाल

में भी हुआ है और हो रहा है। परन्तु समय के प्रभाव से मनुष्यों के विचार आदि में जो परिवर्तन होता है, आवश्यक नहीं कि वह सर्वदा व सर्वथा उत्तम व उपयोगी ही हो। क्योंकि यह परिवर्तन प्रायः एक दूसरे को देखा देखी, बिना सोचे विचारे भी हो जाता है। अनेक बार तो समय का यह प्रवाह इतना दूषित और भयङ्कर हो जाता है कि उसके पलटने की अत्यन्त आवश्यकता हो जाती है। और प्रभावशाली सुधारक समय समय पर सचाई, आवश्यकता व उपयोगिता की दृष्टि से उसको पलटते रहते हैं। जिस से पता चलता है कि समय ही मनुष्यों के विचार आचार आदि में परिवर्तन नहीं करता बल्कि मनुष्य भी समय को पलट कर अपने अनुकूल बना लेते हैं। और सच्च तो यह है कि समय को अच्छा व बुरा मनुष्य बनाया करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार के उनके विचार आचार हुआ करते हैं समय का वायुमण्डल भी वैसा ही बन जाया करता है। इस लिये उचित व हितकर तो यह ही है कि समय के प्रवाह में प्रवाहित होकर अपने विचार आचार को बदलना नहीं चाहिये। बल्कि सचाई, आवश्यकता व उपयोगिता की दृष्टि से ही उनमें परिवर्तन करना चाहिये।

तीसरा परिवर्तन वह है, जोकि मनुष्य अपनी इच्छा से अपने विचार आचार आदि में केवल नवीनता लाने के लिये सदा ही नहीं, किन्तु सचाई, आवश्यकता तथा उपयोगिता की दृष्टि से सोच विचार कर करता है। डार्विन का विकासवाद भले ही प्रत्येक

नवीन वस्तु को प्राचीन से उत्तम व उन्नत माने, परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि सृष्टि नियम द्वारा होने वाला परिवर्तन निरन्तर नवीनता ही नहीं लाता बल्कि क्रमशः नये को पुराना और पुराने को नया बनाता रहता है। और नवीनता अपने स्वरूप से भो प्राचीनता से सर्वदा व सर्वथा उत्तम व उन्नत नहीं होती और न ही नवीनता व प्राचीनता परस्पर विरोधी हैं। बल्कि यह दोनों हो प्रत्येक कार्य पदार्थ अथवा अधिकरण में साथ २ विद्यमान रहती हैं। और अपनी भिन्न २ अवस्थाओं में एक दूसरे से उत्तम व निकृष्ट होती रहती हैं। अर्थात् न तो नये प्राकृतिक सब पदार्थ ही पुरानों से उन्नत और उत्तम होते हैं और न ही सारे नये विचार और आचार पुराने सारे विचारों व आचारों से। उदाहरण के लिये नये कच्चे तथा पुराने पके हुए अन्नों और फलों को ही ले लीजिये। प्रायः नये कच्चे अन्नों व फलों की अपेक्षा पुराने पके हुए अन्न और फल उत्तम होंगे। और पुराने सड़े गले अन्नों, फलोंसे नये अन्न व फल अच्छे होंगे। यहो दशा नये और पुराने विचार आचार आदिकों की भी है। पाठक स्वयं विचार सकते हैं। परिवर्तनवादियों का यह कथन भी सर्वथा सत्य नहीं है कि प्रत्येक वस्तु में ही परिवर्तन होता रहता है। क्योंकि मानवीय जगत के उपयोगी विचार आचार और आवश्यकताएं भी दो भागों में विभक्त हैं। एक सार्व-कालिक और दूसरी सामयिक। सार्वकालिक सर्वदा ही और सामयिक समयानुकूल होने से ही उपयोगी हो सकती हैं। इस लिये सामयिक अथवा समय-उप-

योगी विचारों आचारों और आवश्यकताओं के बदलने की जैसी जरूरत होती है ऐसी सार्वकालिक अर्थात् प्रत्येक समय में एक से उपयोगी विचारों, आचारों और नियमों के बदलने की आवश्यकता नहीं है। और सत्य सिद्धान्त अथवा नैसर्गिक सचाईयां और नियम तो बदलते ही नहीं हैं। साईन्सवेत्ता भी यह जान वा मान कर ही साईन्स के परीक्षण करते हैं, कि सृष्टि के नियम एकरस तथा अटल हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि यह नियम अपरिणामी न होते तो न तो वह भूतकाल के विषय में कुछ सोच सकते और नहीं भविष्य के लिये कोई कार्य ही कर सकते। उदाहरण के लिये न बदलने वाली कुछ एक निम्न लिखित सचाईयों को पेश किया जा सकता है। अभाव का भाव, और भाव का अभाव; अनादि सान्त, और सान्त अनादि; संयोगज नित्य और असंगयोग अनित्य नहीं होता। और नहीं कारण के बिना कार्य होसकता है। कार्य भी कारण-गुणपूर्वक होता है। गुण और शक्ति, गुणी और शक्तिमान् से पृथक नहीं रहते। एक (असंयोगज) से अनेक और अनेक से (संयोगज) एक की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मनुष्यों से मनुष्य, घोड़ों से घोड़े, और आम से आम की ही उत्पत्ति होती है।

इसका प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि साईन्स ने रुधिर की परीक्षा करके मनुष्य घोड़ा और गाये आदि जातियों के रुधिरकण भी भिन्न २ प्रकार के बताये हैं, इस लिये जब विकासवाद एक ही प्रकार के मूल प्राणी (अमीबा) से समस्त भूमण्डल के प्राणियों की

उत्पत्ति मानता है, जब वह उनमें तात्त्विक भेद नहीं मानता, जब सबके संस्थान एक समान मानता है, और जब कि वह सबको एक ही तरीके से विकसित हुए मानता है, तब सब के रुधिरकण एक ही बनावट के क्यों नहीं होते ? इत्यादि।

इतना ही नहीं कि उक्त कुदरती सचाईयां अथवा सृष्टि नियमही अपरिणामी हैं और हर समय पुराने भी हैं और नये भी किन्तु सृष्टि के उत्पन्न और विनाश होने वाले सारे कार्य रूप पदार्थ और नियम भी प्रवाह से पुराने भी हैं और नये भी। जैसे मौसम पुराने भी हैं और नये भी, बीज पुराने भी हैं और नये भी। इसी प्रकार प्रत्येक नया पुराना भी है और प्रत्येक पुराना नया भी, अथवा सारी सृष्टि ही प्रवाह से पुरानी भी है और नयी भी।

इसके अतिरिक्त इस कथन में भी कोई अत्युक्ति नहीं कि पुराना नये की बुनियाद है। पुराने माता-पिता से नयी सन्तान, पुराने बीज से नया वृक्ष, पुराने लिटरेचर से नया लिटरेचर बनता है। क्योंकि पुराने लिटरेचर को पढ़कर ही मनुष्य विद्वान् बनते, उन्नति करते और नया लिटरेचर बनाते हैं। अगर पुराने माता पिता, पुराने बीजों और पुराने लिटरेचर को मिटा दिया जाय तो नये बच्चे, नये वृक्ष और नये लिटरेचर का उत्पन्न होना असम्भव है। क्योंकि अभाव का भाव नहीं होता।

बनस्पति से कीट, पतङ्ग, पक्षी, पशु और पशु से मनुष्य, जड़ से चेतन और उसके ज्ञान आदि गुणों की उत्पत्ति डार्विन महोदय के काल्पनिक जगत में ही हो सकती है। प्रत्यक्ष जगत् में उसका

कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिये किसी सचाई को केवल पुरानी कह कर ही झुटलाया नहीं जा सकता।

यह कहना भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध है कि परिवर्तन शील जगत् का प्रत्येक पदार्थ समय के साथ बदलता हुआ नया हो जाता है। और उसकी प्राचीनता नाश हो जाती है। क्योंकि जगत् के कार्य-रूप पदार्थों के पुराने परमाणुओं में नये परमाणुओंके सदा मिलते रहने पर भी वह पदार्थ पुराने होते जाते हैं। बनस्पतियों, पशुओं और मनुष्यों के शरीरों में भोजन द्वारा नित्य-प्रति नवीन परमाणुओं का समावेश होता रहता है तो भी वह नये नहीं हो जाते। किन्तु आये दिन पुराने (वृद्ध) होते जाते हैं। विकास-वाद का यह मन्तव्य भी भ्रमात्मक है कि संसार के पदार्थ स्वाभाविक परिवर्तन द्वारा सदा उन्नति ही करते जाते हैं, क्योंकि परिवर्तन-शील संसार की प्रत्येक वस्तु व्यक्तिरूप से परिमित है। इसलिये संसार समष्टि रूप से भी परिमित है और कोई परिमित अथवा परिच्छिन्न वस्तु असीम उन्नति नहीं कर सकती। असीम वस्तु की नैमित्तिक उन्नति भी ससीम ही होती है, यथा प्रकृति से महत्तत्त्व (नियोबला) उससे ग्रह-उपग्रह बनते बदलते और विनाश भी वैसे ही हो जाते हैं, जैसे कि मनुष्य आदि के शरीर बनते बढ़ते और क्षीण होते होते नाश हो जाते हैं। यह एक नैसर्गिक सचाई है कि जहां अनादि नित्य पदार्थों में विकास विकार और परिणाम नहीं होता वहां सादि कार्य पादर्थ बनते बढ़ते और क्षीण भी होते हैं। अर्थात् उन्नति भी करते हैं और अवनति भी;

इस का प्रमाण, जगत के सारे ही प्राकृतिक पदार्थों से मिलता है जो कि अपनी युवावस्था तक बढ़ते अथवा उन्नति करते हैं और उसके पश्चात् अवनत होते हुए नाश हो जाते हैं। अतः जब कि यह प्रत्यक्ष है कि प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु अपने जीवन काल में ही अपनी युवावस्था (उन्नति की सीमा) के पश्चात् अवनत अथवा क्षीण होते २ नाश हो जाती है। और डार्विन का विकास वाद प्रकृति से भिन्न किसी चेतन सत्ता को मानता ही नहीं, तो फिर इस सृष्टि के नियम के विरुद्ध विकासवाद का वस्तुओं के नये जन्म में उसको पिछले जन्म की युवावस्था से भी उन्नत मानना अथवा उनके क्रमशः उन्नति करने का सिद्धान्त क्योंकर सत्य हो सकता है।

भारत के प्रसिद्ध विद्वान् श्री० ला० हरदयाल जी एम० ए० भी डार्विन के विकासवाद की क्रमशः उन्नति के विरुद्ध हैं। जैसा कि उनके निम्नलिखित शब्दों से विदित है—

> मैं निराशावादी नहीं हूं, न ही नीमनिराशावादी हूं। मैं क्रमशः अवनति की थ्योरी में यक़ीन नहीं रखता। इसके साथ ही मैं वह ख़ुशगवार ख़याल भी मनजूर नहीं करता जो यह बतलाता है कि इन्सान ने हर जगह हर ज़माने में हमेशा तरक्क़ी की है। और आइन्दा भी बग़ैर किसी रोक टोक के तरक्क़ी करता चला जायगा। **तरक्क़ी का कोई ऐसा असूल नहीं है जो हमारे फ़ायदे के लिए ही काम करता चला जाय।** मैं तो समझता हूं कि तवारीख़ एक किस्म की खिचड़ी है। यह मुख़तलिफ़ ज़मानों और मुख़तलिफ़ देशों में तरक्क़ी

और तनज़्ज़ुल का ताना बाना तनती है। एक ज़माने में बाज़ कौमों ने कई दिशाओं में तरक्की की है लेकिन उन्होंने दूसरे कई पहलुओं से गिरावट भी दिखलाई है उस ज़माने के आख़ीर में वह लोग अपने बुज़ुर्गों से बाज़ बातों में बेहतर थे और बाज़ में अबतर। हर वक़्त सब जगह सब बातों में एक जैसी तरक्की होती हो मुझे यह दिखाई नहीं देता। इन्सान इस क़ाबिल कभी नहीं हुआ कि यह कह सके मैं हर रोज़ हर तरह से बेहतर ही बेहतर होता चला जा रहा हूँ।...............फ़िज़िकल (भौतिक) और कैमिकल (रासायनिक) नुकता निगाह से विकास महज़ दुहराने का नाम है।

हिन्दू लाहौर १० जून १६३५

मैंने धर्म तथा विकासवाद सम्बन्धी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वैदिक विज्ञान की दृष्टि से पीछे जो कुछ लिखा है, यद्यपि वह उन की यथार्थता अयथार्थता के प्रकट करने के लिये पर्याप्त है, तथापि जो लोग अभी तक यह समझे बैठे हैं कि पुराना (डार्विन का) विकास सिद्धान्त साईन्स के अनुकूल और ईश्वर तथा धर्म आदि का विश्वास साईन्स के विरुद्ध है, उनको जानकारी के लिये योरुप के कुछ एक प्रसिद्ध साईन्सदानों के निरीक्षणों और परीक्षणों द्वारा निर्णीत नवीन विचारों को यहां पर उद्धृत किया जाता है। आशा है कि वह पाठकों विशेषकर उन सज्जनोंके लिए अवश्य ही लाभकारी होंगे जो कि पश्चिमी वैज्ञानिकों के निश्चयों को ही प्रामाणिक समझते हैं।

सन् १६१४ में पश्चिम के प्रकृतिवादी नास्तिकों के सताये

हुए कई एक मुख्य पादरियों ने ईश्वर तथा धर्म आदि विषयों पर मौजूदा साईन्स की सम्मति जानने के लिए योरुप के प्रसिद्ध २ निम्नलिखित सात साईन्सदाओं को आमन्त्रित किया था।

(१) सर ओलिवर जोसेफ़ लाज Sir Oliver Josof Log एफ़. आर. एस. डी. एस. सी. एल. एल. डी० !

आप वैज्ञानिक संसार में महाप्रसिद्ध हैं। आप लिविर-पोल युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर, विरमंघम युनिवर्सिटी के प्रन्सिपिल, फ़िज़िकल सोसाइटी, लन्दनके प्रेसीडेण्ट, रिसर्च फ़िज़िकल सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट और ब्रिटिश एसोसीएशन के प्रेसीडेण्ट हैं। आपने अनेकों पुस्तकें लिखी हैं, तथा अनेकों उपाधियां और बड़े बड़े पदक प्राप्त किये हैं। आप वायरलेस और विद्युत शास्त्र के विशेषज्ञ हैं।

(२) प्रो० जान एम्बोज़ फ़्लेमिंग ए० डी० एस० सी० एफ़० आर० एस०। आप रायल कालेज में कैमिस्ट्री के डिमान्स्ट्रटर, केलटनहम कालेज के साईन्स मास्टर, लन्दन के डाक्टर आफ़ साईन्स, युनिवर्सिटो कालेज नोटिंघम में गणित और विज्ञान के प्रोफ़ेसर, एडीसन कम्पनी के इलेक्ट्रिकल इञ्जीनीयर, मोरले कालेज के प्रोमोटर, युनिवर्सिटी कालिज लन्दन में इलेक्ट्रिकल इञ्जीनीयरिंग के प्रोफ़ेसर और मारकोनी कम्पनी के वैज्ञानिक सलाह-कार हैं। रायल सोसाइटी के फ़ैलो, अनेक ग्रन्थों के कर्ता और अनेक पदक प्राप्त कर चुके हैं। आप विद्युत विज्ञान के विशेषज्ञ हैं।

(३) प्रोफ़ेसर डब्ल्यू० वी० वारमली एम० ए० पी० एच० डी० एफ़० एल० एस० एफ़० सी० एस० । आप प्राणि-शास्त्री हैं । बोटानिकल किंग्स कालेज के प्रोफ़ेसर हैं । कृषि-शास्त्र के ज्ञाता हैं और अनेक पद तथा पदक प्राप्त कर चुके हैं ।

(४) प्रोफ़ेसर एडवर्ड हल एम. एल. डी. एफ़. आर. एस. । आप जियोलोजिकल साईन्स के नेस्टर, आयरलैण्ड भूगर्भ-विभाग के डाइरेक्टर, जियोलोजिकल सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट, प्रसिद्ध लार्ड किचनर के दोस्त और एटलांटिक में टापुओं के आविष्कर्ता तथा अनेकों भूगर्भ सम्बन्धी कार्यों के ज्ञाता हैं ।

(५) जान एलन हाकर, डी. एस. सी. एफ़ आर. एस. । आप गरमी और विद्युत के विशेषज्ञ हैं । विज्ञान सम्बन्धी अनेक समितियों के सभ्य, प्रधान और कार्यकर्ता हैं ।

(६) प्रो० जर्मन सिम्स वुडहेड एम. ए. एल. एल. डी. एफ़. आर. सी. पी. एफ. आर. एस. ई० ।

आप केम्ब्रिज युनिवर्सिटी में पैथालोजी के प्रोफ़ेसर, रायल मेडीकल सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट, रायल माई क्रोस कोप सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट, रायल कालेज के डाइरेक्टर और मेडीकल विभाग के विशेषज्ञ हैं ।

(७) प्रोफ़ेसर सिलवेनिस फ़िलिप्स थामसन बी० ए० एम० डी० एस० सी० एफ़० आर० एस० । आप लन्दन युनिवर्सिटी में फ़िजिक्स के प्रोफ़ेसर, विद्युत और भौतिक विज्ञान के विशेषज्ञ हैं ।

उक्त सातों विद्वान् इस समय के प्रसिद्ध विज्ञान वेत्ता हैं। इनकी बात नवीन विज्ञान-संसार में इसी तरह मान्य है जिस तरह भारत में ऋषियों की, यह सभी महात्मा चिरञ्जीव हैं। उन्होंने लण्डन के प्रसिद्ध ब्राउनिङ्ग हाल में सात दिन तक ईश्वर, जीव, धर्म, विकास तथा इलहाम आदि विषयों पर विचार करने के पश्चात् अपना जो मत प्रकट किया था वह पुस्तकाकार में छपवा दिया गया था। और पुस्तक का नाम "साईन्स एण्ड रिलीजन" (विज्ञान और धर्म) रक्खा था। उसी पुस्तक में से कुछ उद्धरण पाठकों की जानकारी के लिये उद्धृत किये जाते हैं—

1. That is the old materialistic school—Hackel's school if you like—which, let me tell you, is hopelessly out of date and antiquated.

Science and Religion Page 63.

अर्थात् मैं बतलाना चाहता हूँ कि हेकल का (एवोल्यूशन) स्कूल जो कि एक बहुत पुराना भौतिक स्कूल है; वह दक़यानूसी है। और वर्तमान युग से सर्वथ दूर है।

2. We are in the process of evolution; we have arrived in this planet by evolution. That is all right. What is evolution ? Unfolding development-unfolding as a bud unfolds into a flower, as an acorn into an oak.

Every thing is subject to process of growth, of development of unfolding. Sc.R. P 16.

अर्थात् हमारा विकास हो रहा है, हम इस ग्रह पर विकास द्वारा ही पहुँचे हैं। यह सब ठीक है। परन्तु विकास कहते किसे हैं? विकास विकसित होने (खिलने) और नशवोनुमा पाने का नाम है। जैसे कली से फूल, नियत नियमित नियम के अनुसार विकसित होता या बीज से वृक्ष निकलता है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु विकसित हो और बढ़ रही है अथवा नशवोनुमा पा रही है।

3. And all the theories of matter advanced during the last twenty years are based on a conceptiou—a postulate of non-material. That is the last science.

Ibid P. 62.

अर्थात् प्रकृति सम्बन्धी जितनी विचार पद्धतियां (थ्योरियां) गत बीस वर्षों में ज़ाहिर की गयी हैं। उन सबका आधार आध्यात्मिक तत्त्व है। यह है नवीन विज्ञान।

4. Not very long ago, it was to some extent fashionable in scientific circles to be an Agnostic. But today a man who glories in his ignorance is blamed and not lionised. The attitude is quite out of

fashion. Thanks to the labours of science.

Sc. R. P. 85-86.

अर्थात् अधिक समय नहीं गुज़रा कि वैज्ञानिकों के सरकिल में कुछ हद तक यह रिवाज बना हुआ था कि वह अपने आपको सन्देहवादी ज़ाहिर करते थे। लेकिन आज जो आदमी अपने को सन्देहवादी अर्थात् अज्ञानी ज़ाहिर करने में गौरव समझता है, उसको बुरा समझा जाता है। क्योंकि सन्देहवादी होना वर्तमान काल के फ़ैशन के विपरीत है और यह विज्ञान के परिश्रमों का ही फल है।

5. To sum up this part of our argument we can say that scientific study most certainly shows us the presence in this physical universe of an order, stability, Directing Power and intellegibility and capability of being understood by us. These qualities are not spontaneously produced. They do not come by chance. They are not the result of mere accident. They always imply thought and intelligence. This universe is not merely a thing, it is a thought and thought implies and necessitates a thinker. Hence there is in this universe

a Supreme Thinker or Intelligence of which our own intelligence is but the faint copy of image. Sc. R. P. 48.

अर्थात् वैज्ञानिक अनुशीलन निश्चित रूप से हम पर यह ज़ाहिर करता है कि इस भौतिक संसार में एक क्रम, स्थिरता, नियामक तथा प्रेरक शक्ति है। और वह शक्ति हम से अनुभव की जा सकती है। यह गुण स्वतः पैदा नहीं हो गये हैं। और न ही अचानक निकल आये हैं, और न ही केवल किसी अचानक घटना का परिणाम हैं; यह विचार तथा चैतन्य के द्योतक हैं। यह संसार केवल वस्तु (जड़ वस्तु) ही नहीं, प्रत्युत यह विचार-मय है। और यह विचार विचारक की आवश्यकता को ज़ाहिर करते हैं। अतः इस ससार में एक उच्चकोटि का विचारक है जिसके सामने हमारे अपने विचार उसकी एक निहायत ही मामूली नक़ल व शक़ल अथवा रूप रेखा हैं।

इसका अभिप्राय साफ़ यह है कि संसार में जो स्थिरता, तरतीब, योजना, धारणा, और विचार आदि दिखलाई पड़ते हैं, यह कोई परिस्थिति, संयोग, मौक़ा व इत्तफ़ाक़ की अन्धपरम्परा से ही उत्पन्न नहीं हो गये हैं, जैसाकि पुराना विकासवाद (डार्विन का) कहता है। बल्कि यह सब इस संसार में एक सर्वव्यापक चैतन्य सत्ता (ईश्वर) की सूचना देते हैं।

(६) दिसम्बर १९३३ के चिलडरन न्यूज़ पेपर (Children's News) में प्रो० रिचेट की (Thirty years of physical

research) थर्टी ईयर्स आफ़ फ़िज़िकल रिसर्च नामी पुस्तक का एक विज्ञापन छपा हैं उसमें लिखा है कि तीस वर्ष की खोज के बाद यह पुस्तक लिखी गई है और ग्रन्थकार ने जीवात्मा का अनुसन्धान कर लिया है। ग्रन्थ में से निम्न वाक्य उद्धृत किये हैं—

Fifty years ago the attitude of Science was that all happenings, that could not be explained by known physical laws, were not real results, but the imagining of credulous or superstitious people.

'Children's News' paper of 8th. Dec. 1923.

अर्थात् पचास वर्ष पूर्व भौतिक विज्ञान का यह रुख था कि जो घटनायें भौतिक विज्ञान से सिद्ध न हो सकें उनका अस्तित्व हो नहीं है। वह अन्धविश्वासी लोगों की कल्पनायें हैं, किन्तु आज ऐसे भी अकाट्य प्रमाण मिल रहे हैं कि भौतिक विज्ञान की पहुँच से बाहर भी पदार्थों का अस्तित्व है ऐसी घटनाओं को 'साइकिकल' (यह शब्द यूनानी में आत्मा का वाचक है) कहते हैं क्योंकि ऐसी घटनायें शरीर की अपेक्षा आत्मा से सम्बन्ध रखती हैं।

(७) स्पष्टवादियों में प्रो० गेडस कहते हैं—

Some authorities who have found satisfaction in the Meteorite-Vehicle-Theory

have also suggested that life is as old as matter. Evolution P. 70 By Geddes.

अर्थात् कुछ प्रामाणिक विज्ञान वेत्ता जो जीव के एक लोक से दूसरे लोक में आगमन की कल्पना को सन्तोष जनक मानते हैं, ऐसा भी मानते हैं कि जीव प्रकृति की भांति अनादि है।

(८) दूसरा विद्वान यह कहता है—

Dead matter cannot become living without coming under the influence of matter previously living. This seems to me as sure a teaching of science as the law of gravitation.

The Nature & Origin of Life P. 173.

अर्थात् चैतन्य के बिना जड़ पदार्थों में चेतनता आ ही नहीं सकती। विज्ञान का यह नियम मुझे पृथिवी के आकर्षण की भांति अटल प्रतीत होता है।

(९) प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफ़ेसर मेकडोगल कहते हैं—

For no single organic function has yet been found explicable in purely mechanical terms, even such relatively simple processes as the secretion of tear or the excudation of a drop of sweat coutinue to elude all attempts at complete explanation

in terms of physical and chemical science.

Psychology p. p. 33-34 by Professor
W. Mcdougall F R. S. H. B.

अर्थात् किसी भी सजीव क्रिया की संगति भौतिक नियमों से अब तक स्पष्ट नहीं की जा सकी। आंसू और पसीने के निकलने आदि २ छोटे २ नियमों के स्पष्टीकरण की यह चेष्टायें भी निरर्थक साबित हो चुकी हैं।

(१०) मस्तिष्क शास्त्र के जन्मदाता प्रोफ़ेसर गाल लिखते हैं—

In my opinion there exists but one single principle which sees, hears, feels, loves, thinks, remembers etc. But this principle requires the aid af various material instruments, in order to manifest its respective functions. Dr. Gall

अर्थात् मेरी राय में एक ही निरवयव सत्ता है जो देखती, सुनती, स्पर्श, करती और प्रेम, विचार, तथा स्मरण, आदि करती है परन्तु वह अपने कार्यों को प्रकट करने के लिये भिन्न २ भौतिक यन्त्रों की सहायता चाहती है।

(११) प्रसिद्ध साईन्सदां सर आलिवर लाज लिखते हैं—

Once you realize that the consciousness is some thing greater, some thing outside the particular mechanism which it

makes use of, you realize that survival of existance is natural, is the simplest thing. It is unreasonable that the soul should jump out of existance when the body is destroyed. We ourselves are not limited to the few years that we live on this earth. We shall go on without it. we shall certainly continue to exist, we shall certainly survive. Why do I say that? I say it on definite scientific grounds. Ibid P. 24

There are many who have not yet investigated......but if a person gives thirty or forty years of his life to the investigation he is entitled to state the result at which he has arrived. Ibid P. 26.

अर्थात् यदि एक बार आप इस बात का अनुभव करें कि चेतनता एक बड़ी वस्तु है और वह इस भौतिक शरीर रूपी यन्त्र से बाहर की वस्तु है। जिसको यह प्रयोग में लाती है तब तुम यह भी मान लोगे कि शरीर के नाश होने के बाद भी चेतनता विद्यमान रहती है और यह अत्यन्त साधारण बात है। इस बात को अक़्ल नहीं मानती कि शरीर के नाश हो जाने पर चेतनता (आत्मा) का भी नाश हो जाता है। जितने दिन हम इस पृथिवी

पर व्यतीत करते हैं वहीं तक हमारा अस्तित्व परिमित नहीं है। बिना शरीर के भी हमारा अस्तित्व बना रहेगा। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। मैं ऐसा क्यों कहता हूँ। इसलिये कि ऐसा कहने के लिये मेरे पास निश्चित वैज्ञानिक आधार हैं।

बहुतों ने अभी इस बात की खोज ही नहीं की। परन्तु यदि जिसने अपने जीवन के ३० या ४० वर्ष इस खोज में लगाये हों, तो वह इस बात का अधिकारी है कि अपनी खोज के परिणामों को दूसरों के सामने प्रकट करे।

(१२) प्रसिद्ध साईंसदान महोदय न्यूटन "प्रिन्सपिया" नामक अपने ज्योतिष विषयक ग्रन्थ में लिखते हैं—

All this material universe is the handiwork of one omniscient and ommipotent creator. (Kelwin)

अर्थात् यह सार्वभौतिक जगत् एक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर की रचना है।

(१३) इंगलैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक लार्ड केलविन (Kelwin) महोदय का कथन है—

"Science positively affirms creative power. We are absolutely forced by science to believe with perfect confidence in a directive power, in an influence other

than physical or electrical forces."

Qouted in Science & Religion P. 48.

अर्थात् विज्ञान प्रबल और स्पष्ट रूप से कर्तृत्व शक्ति और ईश्वर का समर्थन करता है। विज्ञान हमें इस बात के लिये पूर्णतया बाधित कर देता है कि हम एक ऐसी नियामक शक्ति में दृढ़ विश्वास रक्खें जो भौतिक व विद्युत शक्ति आदि से पृथक् है।

(१४) डाक्टर माल-कैरस ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दी रिलिजन आफ़ साईंस' में लिखा है—

"While science does not speak of God, it teaches God, for every law of nature is a part of God's being.'' P. 22

'The religion of Science is not atheistic but theistic." P. 23.

"God is that which determine the shape of nature and directs the course of energy."

अर्थात् यद्यपि विज्ञान विशेष रूप से ईश्वर का प्रतिपादन नहीं करता, तो भी वह ईश्वर विषय में हमें शिक्षा देता है क्योंकि प्रकृति का प्रत्येक नियम ईश्वर का एक अंग और उसका सूचक है विज्ञान-धर्म नास्तिक नहीं किन्तु आस्तिक है। परमेश्वर ही है जो कि प्रकृति के स्वरूप का निर्णय करता तथा प्रकृति शक्ति को प्रेरित करता है।

(१५) उक्त डाक्टर महोदय ईश्वर के स्वरूप के विषय में यह लिखते हैं—

We should have an intimate relation to that All-Being in which, through which and to which we live. This All-Being in its wonderful harmony of law surrounds and pervades our entire existence. Truly it is *grand and sublime and perfect beyond* description. It is the source of all blessings and it encompasses us with a *beneficence that can be compared only to a father's love.*

The Religion of Science P. 94.

अर्थात् हमें उस सब व्यापक सत्ता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहिये, जिसमें और जिसके द्वारा हम जीवित रहते तथा विचरते हैं और जिसको तरफ़ जाते हैं। यह सर्व व्यापक सत्ता अपने नियमों की आश्चर्य-जनक समता व व्यवस्था से हमारे सारे जीवन को व्याप्त करती है। सचमुच यह आश्चर्य जनक उत्कृष्ट और वर्णनातीत रीति से पूर्ण है। यह सारे मङ्गल का मूल है और जिस उपकार व हित दृष्टि से यह हमें घेरे हुए है उसकी तुलना केवल एक पिता के सच्चे प्रेम के साथ की जा सकती है।

(१६) 1933 में (Religion of Scientists Edited

by Drawbridge M. A.) रिलिजन आफ साइंटिस्टस नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसके सम्पादक डराब्रिज एम० ए० हैं। उसमें रायल सोसाइटी के लगभग दो सो सदस्यों अर्थात् वर्तमान काल के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के धर्म विषयक विचारों का संग्रह है, जो कि उन्होंने धार्मिक प्रश्नों के उत्तर रूप में दिये थे। इसके पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वर्तमान वैज्ञानिकों की अधिक संख्या ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखती है, हां ईसाईयों व अन्य मतावलम्बियों के साकारवाद में उनका कोई विश्वास नहीं है।

क-प्रश्न—"Do you think that the recent remarkable developments in scientific thought are favourable to religious belief?"

अर्थात् क्या आप समझते हैं कि वर्तमान अद्भुत वैज्ञानिक उन्नति धार्मिक विश्वासों के अनुकूल है।

ख—इसका उत्तर डाक्टर ए० टी० मास्टर मैन F.R.S., M.A., D.C.F.,R.S, E. ने निम्न लिखित दिया है, जिस से बहुत से धुरन्धर वैज्ञानिकों ने अपनी सहमति प्रकट की है।

"Only so far as the more we discover of His handiwork, the more we become assured of His existence."

The Religion of Scientists P. 121.

अर्थात् उतनी दूर तक कि ज्यूं २ ईश्वर की रचना का अधिक

ज्ञान होता जाता है, उसके अस्तित्व में भी हमारा विश्वास अधिक दृढ़ होता जाता है।

ग—उक्त प्रश्न का उत्तर सरजेम्स एलफ्रेड अर्विङ्ग K. C. B., F. R. S., H. M. M. A, LL. D., D.S. E, F. R. S. E, वाईस प्रेसीडेण्ट आफ़ दी रायल सोसाइटी ने यह दिया है—

"Yes very favourable. They have convinced the intelligent public of the futility or old fashioned 'Materialism.' The cocksureness which found expression there is dead." P. 120.

अर्थात् वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति धार्मिक विश्वासों के बहुत अनुकूल है। उन्होंने विचारशील जनता को निश्चय दिला दिया है कि पुराने फ़ैशन का प्रकृतिवाद सर्वथा व्यर्थ और अशुद्ध है। जिस दृढ़ निश्चय के साथ पुराने प्रकृतिवादी जिस प्रकृति से ही सब वस्तुओं की व्याख्या करने का यत्न करते थे, वह अब मर चुकी है।

घ—उक्त प्रश्न का उत्तर प्रोफेसर बी० डी० स्टील F. R. S., D. Sc, F. C. S., F. I. C. ने इस प्रकार दिया है—

"I think that recent development in physical science are not only favourable but render such belief, not only possible, but inevitable." P. 121.

अर्थात् विज्ञान की वर्त्तमान उन्नति न केवल ईश्वर सत्ता आदि विषयक धार्मिक विश्वासों के अनुकूल है किन्तु उसने ऐसे विश्वास को केवल संभव ही नहीं बल्कि अनिवार्य बना दिया है।

(१७) Christian Evidence क्रिश्चियन एविडन्स सोसाइटी की तरफ़ से निम्न लिखित प्रश्न किया गया—

प्रश्न—Do you think that science negatives the ideas of a personal God as thought by Jesus christ ?"

अर्थात् क्या आपके विचार में विज्ञान ईसामसीह द्वारा प्रतिपादित ईश्वरवाद का खण्डन करता है ?

क—इसका उत्तर मिस्टर सी० एस० मिडल मिस F. R. S, C. I. E. ने यह दिया—

"Yes, such anthropomorphism is childish."

अर्थात् हां ! ऐसे ईश्वर की मनुष्यवत् कल्पना बालकों के समान है जो कभी मान्य नहीं हो सकती।

ख—इसका उत्तर प्रोफ़ेसर जे० बी० कोहन F.R.S.,D.Sc. LL. D., F. C. S. ने यह दिया है—

"I think it does, assuring the personal God to have human attributes." (P. 85)

अर्थात् में समझता हूँ कि विज्ञान ईसामसीह की ईश्वर विषयक कल्पना का जो मानव गुणों से युक्त उसे बतलाती है खण्डन करता है।

ग—डाक्टर एलफ्रेड रैफ F.R.S, Sc.D.D. Sc.,Ph.D. ने भी उक्त प्रश्न का उत्तर इसी प्रकार दिया है।

अर्थात् ईसाई गिरिजा-घरों की ईश्वर-कल्पना का (यदि वही ईसामसीह की शिक्षा थी) विज्ञान निषेध करता है।

नोट—उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विज्ञान वैदिक निराकार ईश्वरवाद को तो मानता है, लेकिन साकार ईश्वरवाद का खंडन करता है।

साईन्सदानों के ऊपर उद्धृत किये गये वैज्ञानिक निर्णयों से स्पष्ट है कि डार्विन और हेक्ले आदि महानुभावों का विकासवाद तो अब मर चुका है। अर्थात् परिस्थिति, संयोग, मौक़ा और इतफ़ाक आदि शब्दों की कल्पित नींव पर जो विकासवाद की इमारत बनाई गई थी, वह अब गिर चुकी है। क्योंकि अब तो सर आलिवर लाज आदि प्रसिद्ध साईन्सदानों ने यह मान लिया है कि विकास तो, कली से फूल और बीज से वृक्ष बनाने वाला नियत नियमित नियम है। और पुराने साईन्स ने अनधिकार चेष्टा करके आध्यात्मिक विषय के सम्बन्ध में जो निरर्थक कल्पनायें की थीं, नवीन साईन्स उनको मिथ्या ठैराते हुए वैदिक विज्ञान की शरण ले रहा है अर्थात् वैदिक विज्ञान तथा दर्शन शास्त्र ने ईश्वर, जीव, धर्म और मोक्षादि आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में आधुनिक पश्चिमीय साईन्स के जन्म से भी अति पूर्व जो कुछ निर्णय किया हुआ है वर्तमान साईन्स उसको स्वीकार कर रहा है।

अतः परिवर्तन अथवा परिणामवादियों का बिना जाने बूझे और सोचे विचारे ईश्वर, धर्म तथा सारे ही प्राचीन धार्मिक साहित्य और संस्कृति आदि का विरोध करना निरर्थक और अन्ध विश्वास पर अवलम्बित है और मनुष्य समाज के लिये अत्यन्त हानिकर है। क्योंकि उनका प्राचीनता का निषेध तथा नवीनता का समर्थन करने वाला सिद्धान्त न केवल यह कि पुराने धार्मिक साहित्य और साम्प्रदायिक विचारों पर ही लागू होता है, बल्कि आज जिस साहित्य और जिन विचारों को वह नवीन और सत्य समझते हैं, कल उनके पुराना हो जांने के कारण उन पर भी वह लागू होगा। अर्थात् जिस नवीनता के कुठार से वह प्राचीन धार्मिक साहित्य और संस्कृति की जड़ें काटना चाहते हैं, कल वही कुठार उनकी आजकी नवीनता और उनके अपने विचारों के पुराना हो जाने पर उनकी जड़ें भी काटेगा। इस कारण यह सिद्धान्त जहां स्थिर साहित्यका मूलही काट देता है वहां साहित्यिक उन्नतिको भी असंभव बना देता है अथवा प्रत्येक विद्वानके विचारों तथा अनुभवों के संग्रह को उसके जीवन के साथ ही समाप्त कर देता है, क्योंकि वह उसके पश्चात् उत्पन्न .होने वालों के लिये पुराना हो जाता है। और उन्नति तब होती है, जब कि पिछले विद्वानों के ग्रन्थों को पढ़ कर उनके अनुभवों से लाभ उठाते हुए आगे बढ़ने की योग्यता प्राप्त की जाय। इसलिये जैसे यह मानना और समझना अन्धविश्वास है कि पुरानी सब बातें अच्छी और नयी सब खराब, पुरानी सब पुस्तकें प्रामाणिक और नयी

सब अप्रामाणिक हैं वैसे ही यह मानना भी भ्रममूलक है कि पुरानी सब बातें बुरी और नयी सब अच्छी। पुराना सब लिटरेचर ख़राब और ग़लत, नया सब अच्छा और ठीक है, पुरानी कलचर बुरी और नयी अच्छी है।

अतएव नवीनता परिवर्तन और क्रान्त्यादि की मुहारनी छोड़कर सचाई और उपयोगिता की कसौटी पर ही प्रत्येक वस्तु की जांच होनी चाहिये। नवीनता, परिवर्तन और क्रान्ति को उद्देश्य नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि यह उद्देश्य नहीं किन्तु वास्तविकता और सत्यता रूपी उद्देश्य के साधन हैं और साधन भी वह नवीनता, परिवर्तन और क्रान्ति जोकि प्राचीनता के मिटाने के लिये ही न हों अपितु सुधार, सचाई और वास्तविकता की स्थापना के लिये हों। क्योंकि यही सुधारकों के ध्येय हैं और इन्हीं से मानवीय संसार का उत्थान और कल्याण होता है। यह चाहे प्राचीन ग्रन्थों से मिलें या उनके द्वारा सिद्ध हों, अथवा नवीन पुस्तकों और अनुभवों से मिलें, ले लेने चाहियें। सत्य-असत्य के निर्णय रूपी उद्देश्य से शून्य प्राचीनता, नवीनता, परिवर्तन और क्रान्ति की उपासना अधोगति का ही कारण है। यदि प्राचीनता के प्रतिनिधि और नवीनता के भक्त "सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये" के वैदिक सिद्धान्त को अपना पथप्रदर्शक बना लें तो परस्पर का विरोध भी मिट सकता है और यथायोग्य सुधार और उन्नति भी हो सकती है।

कुटिल-नीति (पालिसी) अथवा अधर्म से भी संसार की उन्नति नहीं हो सकती

अधर्म धर्मका प्रतिद्वन्द्वी है, अथवा शरीर, आत्मा और समाज के अस्वाभाविक विचारों और आचारों का नाम अधर्म है। अधर्म, उदारता, निःस्वार्थता और परोपकार आदि दैवी प्रवृत्ति का विरोधी और आसुरी प्रवृत्ति का प्रवर्तक है। हिंसा, झूठ, चोरी, छल, कपट, दम्भ, अन्याय, ईर्ष्या और द्वेष आदि दुर्गुण सब इसी का परिवार है। जो लोग धर्म को लोकोन्नति (अभ्युदय) का कारण नहीं मानते वह स्वयं चाहे इस बात को न कहें तो भी अर्थापत्ति से यह सिद्ध है कि वह अधर्म से संसार की उन्नति मानते हैं। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि वह पालिटैक्स में धर्मानुकूल व्यवहार के पक्षपातियों को, अनीतिज्ञ और बुद्धू बतलाते हैं और धर्म को देश उन्नति के लिये अनावश्यक बतलाने वाले भारतीयों के गुरु पाश्चात्य नीतिज्ञों ने तो स्पष्ट लिखा ही है कि पालिटैक्स में झूंठ बोलना जाइज़ है और उनकी वर्तमान पोलिटीकल पालिसी के तो अर्थ ही छल, कपट, दम्भ तथा कुटिलता द्वारा अपना उल्लू सीधा करने के हैं। जो राष्ट्र छल, कपट और दम्भ करने में दूसरों से अधिक निपुण हैं वह दूसरों से अधिक नीति-निपुण समझे जाते हैं। इनकी इस प्रकार की अधार्मिक प्रवृत्ति का कारण यह नहीं कि वस्तुतः उन्नति के लिये अधर्म आवश्यक है और धर्म अनावश्यक, बल्कि इसका कारण

यह है कि स्वार्थ-सिद्धि और भोगों की अत्यन्त लालसा उन्हें इतना स्वार्थान्ध बना देती है कि उन्हें दूसरों के साथ अहिंसा, सत्य, अस्तेय और न्याय आदि धार्मिक मर्यादाओं के अनुकूल व्यवहार करने का अहसास (Feeling) ही नहीं रहता। उनके हृदय में दूसरों से निःस्वार्थ प्रेम, मैत्री और सहानुभूति करने का भाव ही उत्पन्न नहीं होता। अधर्माचरण से अधर्मी इतने पतित हो जाते हैं कि वह सदा ही अतृप्त, असन्तुष्ट और अशान्त रहते हैं और अपनी मनोरथ-सिद्धि के लिये सर्वदा इन्द्रजाल रचा करते हैं। परन्तु कपटमुनि की भांति अपने आपको धर्म के पर्दे में छुपाय रखते हैं। अर्थात् वह न्याय और अमन के नाम पर ही सब प्रकार का अन्याय और अत्याचार करते हैं। उनके आत्मा के विरुद्ध मानसिक भाव, मानसिक भावों के विरुद्ध कथन और कथन के विरुद्ध उनकी क्रियायें होती हैं।

जो इस प्रकार अपने आत्मा के विरुद्ध अपने मन, वाणी और इन्द्रियों से बलात्कार काम लेकर इनका नित्य-प्रति हनन करते हैं उन आत्म-हत्यारे अधर्मियों की उपस्थिति में न तो किसी की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और अधिकार ही सुरक्षित रह सकते हैं और नहीं आत्म-सम्मान, आत्मावलम्बन, आत्मरक्षण और आत्म-निर्णय (The determination) के लिये मनुष्यों की निष्कण्टक प्रवृत्ति हो सकती है। अतः बलात्कार अपनी पाशविक शक्तियों और मक्कारियों से संसार को फुटबाल बनाने के इच्छुक इन अधर्मियों से व्यक्तियों और राष्ट्रों की एकता, शान्ति और उन्नति

की कामना करना भ्रम मूलक है, क्योंकि जो केवल स्वार्थ सिद्धि के लिये ही दूसरों के हित का नाश और हनन करने के लिये तत्पर रहते हैं, उनसे दूसरों की भलाई की आशा करना दुराशा मात्र है जो अपनी दुरिच्छाओं को दमन और अपनी इन्द्रियों पर शासन नहीं कर सकते वह संसार में अच्छे शासक नहीं बन सकते। जो स्वयं मर्यादा को तोड़ते हैं वह मर्यादा स्थापित नहीं कर सकते। अशान्त, अतृप्त भोगों के लोलुप भोगी पारस्परिक योग के भी साधक नहीं बन सकते। यही नहीं कि भोगों की अत्यन्त लालसा आत्मा और परमात्मा के योग में ही प्रतिबंधक है प्रत्युत यह भोगों की लालसा व्यक्तियों, समाजों और राष्ट्रों में भी योग नहीं होने देती और इनका परस्पर सर फुटौल कराती रहती है। वर्तमानकाल के राष्ट्र इसका विशेष रूप से उदाहरण बने हुए हैं। इनकी आज कल की प्रत्यक्ष दुर्दशा को देखते हुए भी यदि कोई व्यक्ति संसार की शान्ति, श्रेय और उन्नति के लिये धर्म की आवश्यकता को अनुभव नहीं करता और अधार्मिक नीति को ही इनका कारण बतलाता है तो यह उसकी धृष्टता है। इस

'शठं प्रति शठं कुर्यात्, सादरं प्रति सादरम्'

अर्थात् जैसे के साथ तैसा बनने की अधार्मिक नीति ने मनुष्य समाज को दुरात्मा बनाने में विशेष काम किया है। क्योंकि यह शठ के साथ शठ बनने की प्रेरणा करती है और शठ के साथ शठ, हिंसक के साथ हिंसक, झूठे से झूठा, मक्कार के साथ मक्कार,

अत्याचारी से अत्याचारी, बन कर मुक़ाबला करना संसार में शठता, हिंसा, झूठ, मक्कारी और अत्याचारियों की वृद्धिकरना है। अथवा शठों, हिंसकों, झूठों, मक्कारों और अत्याचारियों की संख्या को बढ़ाना है। साधुता और पवित्रता का ह्रास और भलों को बुरा बनाना है अथवा यूं समझिये कि इस दाव-घात की नीति से शिष्टाचार के स्थान में पापाचरण की वृद्धि होगी। न्याय चाहने वाले स्वयं अन्याय के प्रचारक बनेंगे। सरलता का नाश होकर परस्पर अविश्वास बढ़ेगा। प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक राष्ट्र दूसरों को नीचा दिखाने, निर्बल बनाने तथा लूटने के लिये दाव-घात में लगा रहेगा। जिन दुर्गुणों के कारण संसार पहले ही पीड़ित है उनमें और भी अधिक प्रवृत्ति होगी। शठों, हिंसकों और दम्भियों से घृणा करने वाले शठता आदि के प्रयोग से स्वयं शठ, हिंसक और दम्भी बन जायेंगे। फिर वह श्रेष्ठों से भी श्रेष्ठता का व्यवहार नहीं कर सकेंगे। इस बदला लेने अर्थात् जैसे के साथ तैसा बनने की कूट-नीति ने संसार को पहिले ही पतित और दुःखी बना रक्खा है। फिर सिद्धान्त रूप से इसका समर्थन करना और भी अनर्थ-कारी होगा। इस विश्वासघात की अधार्मिक नीति के बुरा होने में इससे प्रबल और क्या प्रमाण हो सकता है कि इसके प्रयोक्ता स्वयं भी अपने को मक्कार और धोखेबाज़ मानने को तय्यार नहीं हैं, और प्रत्येक वह मनुष्य जिसके साथ धोखेबाज़ी और मक्कारी की जाती है, धोखेबाज और मक्कार को दुष्ट और दुरात्मा समझता है। यदि यह कुटिलनीति मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल

होती तो प्रत्येक मनुष्य इस से घृणा न करता। चूंकि प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः इस अधार्मिक नीति से घृणा करता है, इसलिये यह मानवीय धर्म (स्वभाव) के विरुद्ध होने से उचित नहीं ठैराई जा सकती और न ही उन्नति का कारण हो सकती है।

धर्म-शून्य स्वराज्य भी देश उन्नति का कारण नहीं हो सकता

यह सत्य है और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि स्वराज्य पर-राज्य से अत्यन्त उत्तम है क्योंकि पर-राज्य की ओर से उसके अपने राष्ट्र की स्वार्थ सिद्धि के लिये देश पर जो जो अन्याय किये जाते हैं और देश उन्नति में जो जो बाधायें डाली जाती हैं, देश उनसे जरूर बच जाता है। परन्तु स्वराज्य होने पर भी जब तक देश पर धर्मानुकूल राज्य नहीं किया जाता तबतक राज्य का वास्तविक उद्देश्य, देश की उन्नति अथवा प्रजा की रक्षा, सुख, शान्ति और समृद्धि में वृद्धि नहीं हो सकती। अधर्मी राज्य विदेशी हो अथवा स्वदेशी प्रजा के लिये वैसे ही अनिष्टकारी है जैसे कि लुटेरे, चाहे वह स्वदेशी हों अथवा विदेशी। हां! स्वदेशी लुटेरों से इतना (काल्पनिक) लाभ जरूर है कि लूट का माल स्वदेश में ही रहता है और विदेशी लुटेरे लूट का माल देश से बाहर ले जाते हैं। परन्तु अमन पसन्द प्रजाजनों के लिये जहां यह दोनों ही दुःखदाई हैं वहां वह देश उन्नति का कारण भी नहीं हो सकते। कई एक स्वदेशी राज्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

इसके अतिरिक्त अच्छे से अच्छे राज्य अथवा स्वराज्य की

भी अधिकार सीमा प्रजा के नागरिक और धार्मिक अधिकारों की रक्षा आदि तक ही सीमित है। वह प्रजाजनों पर इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं लगा सकता कि जिससे वह दुराचार आदि में धन का व्यर्थ व्यय न कर सकें। और अनाथों, बीमारों, भूखों और ग़रीबों की सहायता के लिये बाधित किये जा सकें। परन्तु धर्म प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य ठैराता है कि वह विषय भोगादि पापाचरण में धन का व्यय कदापि न करे और यथाशक्ति अनाथों की पालना करे, बीमारों को दवाई और भूखों को रोटी दे। अथवा मोहताजों और ग़रीबों की जीवन-सम्बन्धी आवश्यक ज़रूरतों को पूरा करने में सहायता दे। "क्योंकि धर्म केवल **जगत्पिता परमात्मा को ही लक्ष्मीपति अर्थात् विश्व की सारी सम्पत्ति का मालिक बतलाता है। और सम्पत्तिमानों को ईश्वर की ओर से सम्पत्ति का अमानत दार (Trusty ट्रस्टी) ठैराता है।** इसलिये जो सम्पत्तिमान् धन-धान्यादि सम्पत्ति का अपव्यय अर्थात् विषय भोगादि में व्यर्थ व्यय करते हैं और सुपात्रों (अधिकारियों) की उससे सहायता नहीं करते धर्म उनको कर्तव्य-च्युत अर्थात् पापी -ठैराता है। अतः यह निश्चित है कि स्वराज्य भी धर्म-पूर्वक होने पर ही प्रजा के लिये हितकर तथा देश-उन्नति का कारण बन सकता है, अन्यथा नहीं।

धर्म ही सार्व-देशिक अथवा सांसारिक उन्नति का एकमात्र साधन है

सज्जनवृन्द ! जिस सार्वजनिक मानवीय धर्म का स्वरूप पीछे

वर्णन किया गया है वह धर्म ही है जो कि व्यक्तियों, समाजों और राष्ट्रों की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति का एक मात्र साधन अथवा अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति का हेतु है। क्योंकि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दया, प्रेम, सहानुभूति, सहन-शीलता, सभ्यता, समानता तथा स्वतन्त्रता आदि कल्याण-कारी धार्मिक मर्यादाओं का धारण व सेवन करना ही संसार की व्यवस्था (नज़ाम) और शान्ति को स्थिर रखकर व्यक्तियों, राष्ट्रों और देशों अथवा संसार को उन्नत व सुखी कर सकता है। इस लिये प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज, प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक राज्य को उसकी एक सी ही आवश्यकता है। क्योंकि यह धर्म ही है जो कि मनुष्य को सभ्य, सज्जन, सद्गृहस्थ, अच्छा नागरिक और सच्चे अर्थों में मनुष्य बना सकता है।

यह धर्म ही है जो कि—

"आत्मौपम्येन भूतेषु वर्तन्ते सर्व साधवः"

अर्थात् श्रेष्ठ धर्मात्मा लोग अपनी उपमा (मिसाल) से ही दूसरों से वर्ताव करते हैं" इस शिक्षा द्वारा मनुष्यों को दूसरों से इस प्रकार का व्यवहार करने की प्रेरणा करता है, कि जीवित रहो और जीवित रहने दो, सुखी रहो और सुखी रहने दो, खाओ और खाने दो अर्थात् जिस प्रकार के व्यवहार की इच्छा तुम दूसरों से करते हो उसी प्रकार का व्यवहार तुम दूसरों से करो। यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारा कोई हनन न करे तो तुम भी किसी की हत्या न करो। यदि तुम चाहते हो कि तुम्हें कोई न

सताये तो तुम भी किसी को दु:ख न दो। यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और अधिकारों को कोई न छीने तो तुम भी किसी की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और अधिकारों को हरण मत करो। यदि तुम चाहते हो कि तुम से छल, कपट कोई न करे तो तुम भी किसी को धोखा मत दो और यदि तुम्हारी यह इच्छा है कि दूसरे तुमसे प्रेम करें, तुम्हारी सहायता, सेवा और मानप्रतिष्ठा करें तो तुम भी दूसरों से प्यार करो, दूसरों की सहायता, सेवा और मानप्रतिष्ठा किया करो, इत्यादि। क्योंकि जो कोई दूसरों के जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रादि का हरण करता है, उसका कोई अधिकार नहीं रहता कि वह अपने जीवन आदि की रक्षा की आशा दूसरों से करे और जो कोई दूसरों से प्रेम करता, दूसरों की सहायता और सेवा करता है, वह दूसरों को विवश करता है कि दूसरे भी उससे प्रेम करें उसकी सहायता और सेवा करें।

यह धर्म ही है जो कि राष्ट्रीयता, साईन्स, बल और राजनीति आदि लोकोन्नति के उपयोगी साधनों को भी नियन्त्रित रख कर लाभदायक और सुखदायक बना सकता है। क्योंकि यदि उक्त साधनों पर धर्म का अंकुश न हो तो यह छल, कपट, कुटिलता, लूटमार, तथा रक्त-पात करने के ही साधन रह जाते हैं जिनके कारण संसार दु:खों और विपत्तियों का घर बन जाता है।

यह धर्म ही है जो कि सदाचार की प्रवृत्ति मात्र से उस सुधार को कर सकता है, कि जिस सुधार को राजनीति मैजिस्ट्रेटों, जजों,

पुलिसों, फ़ौजों और दण्ड से करना चाहती है परन्तु यथेष्ट नहीं कर सकती। यही कारण है कि सरकार भी जराइम पेशा लोगों के सुधार के लिये धार्मिक और मज़हबी संस्थाओं को उपदेश करने के लिये जेलों में निमन्त्रित करती है। और उन की देख रेख अथवा प्रबन्ध में जराइम पेशा श्रेणियों के सुधार के लिये उनकी बसतियां बसाती है। यू० पी० गवर्नमेन्ट ने ऐसी बसतियां बसाई भी हैं। जिनका सब प्रबन्ध और देख भाल ईसाई चर्च और आर्यसमाज के हाथ में दिया हुआ है। और यदि विचार करके देखा जाये, तो राजनीति भी अपने क़ानून और दण्ड द्वारा मनुष्यों को धार्मिक बनाने का यत्न करती है। अथवा यूं समझिये कि राजनीति का उद्देश्य भी मनुष्यों को धार्मिक बनाने का है। इसी लिये वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आदि धार्मिक मर्यादाओं के विरुद्ध आचरण करने वालों को दण्ड देती है। क्योंकि प्रजा के धार्मिक बनने से ही देश की व्यवस्था और शान्ति स्थिर रह सकती है और देश उन्नत हो सकता है। यह राजनीति राजा का अथवा राज्य का धर्म है। इसलिये यह भी उसी अवस्था में अपना उद्देश्य पूरा कर सकती है कि जिस अवस्थामें यह सार्वजनिक मानवीय धर्म के अनुकूल हो, यह ठीक है कि बल के पाशविक प्रयोग से जो बढ़ोती होती है, वह भी उन्नति को सी नज़र आती है परन्तु वह वास्तविक उन्नति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि उन्नति भी दो प्रकार की है, यथार्थ और प्रातिभासिक। यथार्थ उन्नति वह है जो कि साधक को जीवन के लक्ष्य अथवा उद्देश्य की ओर ले जाये।

और प्रातिभासिक उन्नति उसको कहते हैं जो कि नजर तो उन्नति की सी आवे परन्तु वास्तव में न हो, जैसे मृगतृष्णा का जल। क्योंकि वृद्धि बढ़ोती अथवा उन्नति शब्द का प्रयोग ठीक अर्थों में वहीं पर प्रयुक्त किया जा सकता है जहां पर कि साधक अपने ध्येय या लक्ष्य की ओर बढ़े अथवा उद्देश्य की प्राप्ति में अग्रसर हो। चूंकि मानवीय संसार का उद्देश्य है, और वह पतञ्जलि मुनि के शब्दों में:—

भोगापवर्गार्थं दृश्यम्

अर्थात् संसार का उद्देश्य भोग और अपवर्ग है। भोग से अभिप्राय प्रारब्ध कर्मों का फल रूप, दुःख सुख का भोगना है। और दुःख-निवृत्ति व सुख-प्राप्ति का नाम मुक्ति या अपवर्ग है। यह मुक्ति भी जीवन मुक्त तथा विदेह विमुक्त नाम से दो प्रकार की है। जीवित काल में ही बन्धनों वा दुःखों से छूटने और स्वतन्त्रता पूर्वक सुखों का प्राप्त करने का नाम जीवनमुक्ति है। और देह के त्यागने के पश्चात् दुःखों की निवृत्ति और सुख-प्राप्ति को विदेह-मुक्ति कहते हैं। मनुष्य जीवन को उद्देश्य इन दोनों प्रकार की मुक्ति (स्वतन्त्रता) अथवा दुःखों की निवृत्ति तथा लोक परलोक के सुखों की प्राप्ति है। अतः इस मुक्ति रूपी ध्येय लक्ष्य अथवा उद्देश्य की ओर बढ़ना ही यथार्थ उन्नति है। यह यथार्थ उन्नति धार्मिक मर्यादाओं के अनुकूल आचार व्यवहार करने से ही प्राप्त हो सकती है। बलके पाशविक प्रयोग से नहीं, क्योंकि बल के पाशविक प्रयोग से जो उन्नति होती है वह वैसी ही उन्नति है जैसी

कि डाका मारने वाले डाकुओं की उन्नति, जो कि मनुष्य जीवन के उद्देश्य की ओर ले जाने वाली यथार्थ उन्नति नहीं हैं। और ऐसी उन्नति संसार में अनेक शत्रु पैदा कर देती है।

जिन का हर समय भय बना रहता है। और भय दुःख दायक है। इस लिये यह इष्ट अर्थात् सुख सिद्धि का हेतु न होने से प्रातिभासिक उन्नति अथवा उन्नति-आभास है। आधुनिक शक्ति शाली राष्ट्रों तथा देशों की उन्नति प्रायः इसी प्रकार की उन्नति है, जिस के होने पर भी वह अभिष्ट सुख की प्राप्ति नहीं कर सकते। और हर समय परस्पर के भय से भयभीत रहते और सुख की नींद नहीं सो सकते, स्पर्धा की अग्नि में अहर्निश जलते रहते और परस्पर के संघर्ष में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं। सारांश यह है कि केवल धर्मानुकूल साधनों तथा धर्म पूर्वक राष्ट्रीयता, बल, और साईन्स, का प्रयोग करने से ही सर्व देशों अथवा संसार की सच्ची उन्नति हो सकती है। इसलिये केवल धर्म ही एक मात्र लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति का साधन है।

मैंने जो कुछ ऊपर लिखा है, यह कोई मेरी कल्पना नहीं किंतु यह एक दार्शनिक सचाई है, कि जिसको आज से शताब्दियों पूर्व कर्म योगी तथा ध्यान योगी महात्मा मानते और कहते चले आये हैं। जैसा कि महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में कहा है—

"यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

अर्थात् लौकिक उन्नति तथा मोक्ष को सिद्धि जिससे होती है वह धर्म है। ऋषि का सांसारिक उन्नति तथा मुक्ति रूपी मनुष्य जीवन

के उद्देश्य का साधन एक ही धर्म को बताना भले ही किसी अज्ञानी विरक्त व भोगवादी को पहेली जान पड़े, अथवा यह भी कि विकास सिद्धान्त के मानने वाला परिणामवादी मनुष्य इसे प्रकृति के स्वाभाविक परिणाम का फल मानते हुए, मनुष्य जीवन का कोई उद्देश्य ही न माने। परन्तु आरम्भक वाद के माननेवाले आस्तिकों का यह बुद्धि पूर्वक निश्चय है कि परमात्मा ने मनुष्य को उसके प्रारब्ध-कर्मानुसार ही जन्म दिया है इसलिये उसके जीवन का उक्त उद्देश्य भी है। और उस उद्देश्य की सिद्धि का साधन भी धर्म ही है। मनो-विज्ञान द्वारा हमें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मनुष्य के अपने भीतर ही मिलता है और वह इस तरह पर कि यह बात स्वयंसिद्ध है, और प्रत्येक मनुष्य इस को स्वयं अनुभव करता है, कि मनुष्य का अन्तरात्मा बन्धन से छूटने और स्वतन्त्रतापूर्वक सुख-प्राप्ति रूपी मोक्ष की इच्छा करता है। अतः यह निश्चित है कि दुःखनिवृत्ति तथा सुखप्राप्ति ही इसका वास्तविक इष्ट अथवा इसके जीवन का स्वभाव-सिद्ध ध्येय, लक्ष्य या उद्देश्य है। और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये परमात्मा की ओर से इस को ज्ञान और कर्म के सम्पादन करने वाले ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय और अन्तः-करण भी मिले हुए हैं। जिस से यह भी निश्चित है कि जिस प्रकार मनुष्य के जीवन के आधार उसके शरीर के फेफड़े, दिल और गुर्दे आदि अङ्गों की स्वाभाविक क्रियायें हैं उसही प्रकार इस की लौकिक तथा पारलौकिक दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति अथवा जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति रूपी मनुष्य

जीवन के उद्देश्य की सिद्धि के साधन भी उसके शरीर की ज्ञान व कर्मेन्द्रियों के विषय ज्ञान और कर्म ही हैं, और जिस तरह पर मानवीय शरीर में ज्ञान और कर्मेन्द्रियों का संगम और योग है उसी तरह पर मानवीय धर्म में भी ज्ञान और कर्म का संगम और योग है। जैसे कि मनु महाराज के बताये हुए धर्मके लक्षणों में धृति आदि के साथ बुद्धि और विद्या को रखकर दिखलाया गया है। यह ज्ञान और कर्म का योग ही एक ऐसा योग है जो कि मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस का एकमात्र साधन है। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ज्ञान और कर्म के योग के बिना न अभ्युदय की सिद्धि हो सकती है और न ही मोक्ष की। यजुर्वेद के निम्न मन्त्रों में इस सिद्धान्त का वर्णन अति उत्तमता से किया गया है।

'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो यउविद्यायांꣳ रताः ॥'

यजु० ४० मन्त्र ९

अर्थात् जो कोई केवल (ज्ञान-शून्य) कर्म का सेवन करते हैं वह गहरे अन्धकार में पड़ते हैं और जो केवल (कर्म-विहीन) ज्ञान में ही सन्तुष्ट रहते हैं वह उससे भी अधिक अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

'विद्यां चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥'

यजु अ० ४० मन्त्र १०

अर्थात्—जो कोई ज्ञान और कर्म इन दोनों के योग पूर्वक कर्म करना जानते हैं वह कर्म द्वारा मृत्यु (बन्धन रूप दुःख-सागर) से तैर कर ज्ञान से अमृत (मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता रूप सुख समूह) को प्राप्त करते हैं। जिसका अभिप्राय यह है कि विचार पूर्वक अर्थात् सोच समझ कर कर्म का न करना भी मूर्खता है और ज्ञान से काम न लेना अथवा ज्ञान को कर्म के रूप में परिणत करके उससे लाभ न उठाना उससे भो अधिक मूर्खता है। अथवा यूं समझिये कि ज्ञानशून्य कर्म और कर्मविहीन ज्ञान दोनों ही निरर्थक हैं। इन दोनों के पारस्परिक योग से ही मानवीय इष्ट और उद्देश्य की सिद्धि होती है। क्योंकि जीवन-उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए, कर्तव्य की दृष्टि से बुद्धि पूर्वक किया हुआ निष्काम कर्म मनुष्य को जन्म मरण रूपी बन्धन और संसार की मुसीबतों से पार करता है और परमात्मा के साक्षात् ज्ञान से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। यद्यपि आधुनिक साईन्स व आर्ट भी ज्ञान और कर्म ही हैं। तथापि वेद के ज्ञान व कर्म और आधुनिक साईन्स व आर्ट के उद्देश्य में भेद है। वैदिक ज्ञान और कर्म का उद्देश्य तो वही है जो कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य है अर्थात् बन्धनों और दुःखों से छूटना और सुख मूलक स्वतन्त्रता (मुक्ति) को प्राप्त करना। वह तो मानवीय धर्म के अनुकूल होने से सुख-प्रद है और आधुनिक साईन्स और आर्ट का उद्देश्य अभ्युदय के स्थान में केवल स्वार्थ-सिद्धि ही बना दिया गया है। इसलिये वह जगत के लिये जह-

मत बन गया है। यदि उनके वास्तविक उद्देश्य अभ्युदय को धर्म की सीमा में सीमित कर दिया जाये तो यह भी संसार के लिये रहमत बन सकते हैं।

इसके अतिरिक्त संसारकी स्थिरता तथा मनुष्य जीवनकी सफलता के लिये प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा भोग और त्याग दोनों की आवश्यकता है। परन्तु मर्यादा से रहित निवृत्ति अथवा त्याग, अकर्मण्यता तथा पुरुषार्थ-हीनता है और मर्यादा से रहित प्रवृत्ति अथवा भोग भोगना विलासिता और प्रकृति-पूजा (मादा परस्ति) है। ऐसी अवस्था में यह दोनों ही जीवन-उद्देश्य की असफलता तथा विनाश का कारण हैं। यह धर्म ही है जो कि इन दोनों का समन्वय कर सकता है और इन दोनों के जगदुपयोगी आवश्यकीय परिमाण (बैलन्स Balauce) को स्थिर रख सकता है। अतः इस दृष्टि से भी धर्म अभ्युदय और निश्रेयस दोनों की प्राप्ति का साधन है। धर्म को अभ्युदय-सिद्धि का साधन त्याग अथवा विरक्त आश्रमी महर्षि कणाद ने ही नहीं बताया किन्तु प्रवृत्ति के विधायक महाभारत में भी लिखा है—

"धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः"

अर्थात् धारण किये जाने के कारण धर्म कहलाता है और धर्म से ही प्रजायें धारण की हुई हैं। धर्म के प्रजाओं को धारण करने का अभिप्राय यह है कि जिसके बिना संसार न चल सके, स्थिर न रह सके, जिससे सब मनुष्य नियमबद्ध रहें, और जिससे जनता की वृद्धि और उन्नति हो, वह धर्म है। महाभारत के इस

वाक्य में यदि किसी को अत्युक्ति प्रतीत हो तो मैं उससे नम्रता-पूर्वक यह पूछूंगा, कि वह यह बतलाने की कृपा करें, कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दया, क्षमा, प्रेम, सहानुभूति, सहन-शीलता, समानता, स्वतन्त्रता, कर्तव्य-परायणता, आध्यात्मिकता, परोपकार, राष्ट्र तथा देश की सेवा, अनाथ रक्षा, काम, क्रोध, लोभ, मद-सेवन, छल, कपट आदि पापाचरण का त्याग तथा मन और इन्द्रियों का विषय-लम्पटता से रोकना आदि आदि मर्यादाओं की संसार को ज़रूरत है या नहीं ? और क्या इनके बिना कोई देश उन्नत व सभ्य हो सकता है, अथवा संसार की सामाजिक व्यवस्था (नज़ाम) और शांति (अमन) स्थिर रह सकती है ? यदि इसका उत्तर यह है कि संसार को इनकी परम आवश्यकता है और इनके धारण किये बिना कोई भी व्यक्ति, राष्ट्र तथा देश सभ्य और उन्नत नहीं हो सकता है और न ही संसार की व्यवस्था और शान्ति स्थिर रह सकती है तो बतलाइये कि धर्म-शून्य, राष्ट्रीय-संगठन, साईन्स और बल संसार की इस आवश्यकता को पूरा कर सकते हैं ? यदि नहीं तो मानना ही पड़ेगा कि धर्म ही संसार की प्रायः हर प्रकार की उचित आवश्यकताओं को पूरा करने वाला और उन्नति का सर्वोपरि साधन है और महाभारत के उपर्युक्त कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है ।

चुनांचे श्री लाला हरदयाल जी एम० ए० के निम्न कथन से भी इसकी पुष्टि होती है:—

"मौजूदा ज़िन्दगी में धर्म का इनाम ख़ुद धर्म ही है। क्योंकि

इसके जरिये इनसान की तरक्क़ी होती है और अधर्म .खुद ही इस दुनियां पर अपनी सजा है। क्योंकि इससे आदमी की तरक्क़ी रुक जाती है।"

हिन्दू लाहौर ८ जुलाई १९३५

पाठकवृन्द ! मेरे पूर्वोक्त वर्णन तथा उद्धृत किये हुए प्रमाणों से सिद्ध है कि धर्म कोई रूढ़ि, अर्थवाद, दार्शनिक-थ्योरी अथवा ग़रीबों को डराकर क़ाबू में रखनेवाली कोई कल्पित वस्तु नहीं है। बल्कि यह तो शताब्दियों से कर्मयोगी, अनुभवी, तत्त्ववेत्ता प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों का मर्म जानने वाले महापुरुषों द्वारा उपयोगिता की कसौटी पर जांच की हुई, मनुष्य जीवन की मर्यादा-पद्धति है, कि जिसके आचरण में लाने पर ही सब प्रकार की उन्नति होकर मनुष्य जीवन की सफलता अथवा जीवन उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है।

यह मान लिया कि साईन्स भी बड़ी उपयोगी वस्तु है और संसार को अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु यह मानना भी अनिवार्य है कि मानवीय संसार को धर्म की साईन्स से भी अधिक आवश्यकता है क्योंकि धर्म जहां अपनी धार्मिक मर्यादाओं से साईंस द्वारा प्राप्त किये हुए बल और वस्तुओं की मर्यादा-पूर्वक प्रयोग में लाने की शिक्षा देकर संसार के लिये उसे उपयोगी बनाता है वहां वह मनुष्यों के सदाचार तथा आध्यात्मिकता सम्बन्धी आवश्यकताओं को भी पूरा करता है। जिसकी कि मानवीय जगत् को अत्यन्त आवश्यकता है और साईंस या संसार की और कोई भी शक्ति

उसको पूरा नहीं कर सकती। यह धर्म के ह्रास और प्रवृत्ति का ही फल है कि आज साईन्स के प्रतिदिन उन्नत ॰ नित्य नये नये आविष्कारों के होने पर भी पराधीन तथा स्वाधी सभी देशों में अशान्ति फैली हुई है। पराधीन देशों के निवासी अपने अन्नदाताओं तथा स्वाधीन देश परस्पर के अन्याय और अत्याचारों से पीड़ित हैं। यह सब ही सुखी, शान्त और अभय होना चाहते हैं। निर्भयता और शान्ति की स्थापना के लिये 'लीग-आफ़-नेशन' का भी निर्माण कर रक्खा है। परन्तु निष्फल; क्योंकि जबतक धर्माचरण द्वारा हृदयों को शुद्ध और पवित्र करके सन्तोष धारण नहीं किया जाता तबतक सफलता नहीं हो सकती। यदि संसार के राजा व प्रजा धर्मात्मा और उनकी राज-नीति धर्मानुकूल हो जाये तो निःसन्देह संसार के सारे झगड़े मिटकर सुख और शान्ति हो सकती है। राजा प्रजा और राजे राजे परस्पर एक दूसरे के शुभ-चिन्तक और हितकर बन सकते हैं और धर्म से विद्रोह करने वालों की आशायें भी पूरी हो सकती हैं।

अतः ऐसे धर्म को देश-उन्नति के लिये आवश्यक न मानना बड़ी भारी भूल है। अथवा यह कि देश-भक्ति के आवेश में राष्ट्रीय एकता में बाधक, मजहबों के झगड़ों से खिन्न होकर ईश्वर और धर्म से भी इनकार कर देना बुद्धिमत्ता और दूर-दर्शिता नहीं है।

यहां पर प्रसंगवश यह निवेदन कर देना भी अनुचित न होगा कि रूस देश का ईश्वर और धर्म के विरुद्ध विद्रोह का जो

इस समय लोगों को भ्रम में डाल रहा है, वह भी एक ।रण मात्र है। कोई सफल और स्वयंसिद्ध सिद्धान्त नहीं है। और न ही रूस का यह विद्रोह विकास-वाद की मानी हुई क्रमशः उन्नति का अटल परिणाम है। क्योंकि इतिहास बतलाता है कि आज से शताब्दियों पूर्व हिरण्यकश्यपु और फरून आदि राजे महाराजे भी ईश्वर तथा धर्म के विरुद्ध विद्रोह कर चुके हैं। परन्तु वह उनकी सत्ता और आवश्यकता को मिटा नहीं सके। इसलिए ईश्वर और धर्म के भाव या अस्तित्व को मिटा देने का विचार एक अपवित्र, घृणित और क्षुद्रता का द्योतक अर्थात् छोटा मुँह बड़ी बात है। क्योंकि धर्म और मनुष्यत्व पर्याय हैं, अथवा धर्म ही मनुष्यत्व है। इसलिए धर्म का मिटाना मनुष्यत्व का मिटाना है। और मनुष्यत्व का मिटाना मनुष्य अथवा अपने आपका मिटाना है। इसी अभिप्राय को प्रकट करने के लिए मनु भगवान ने यह कहा है—

"धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः"

अर्थात् मारा हुआ धर्म मार देता है और रक्षा किया हुआ रक्षा करता है। मनुका यह कथन कोई पन्थाई विश्वास नहीं है, क्योंकि यह निश्चित है कि जो मनुष्य पापाचरण द्वारा धर्म रूप धार्मिक मर्यादाओं का हनन करता है वह स्वयं मरता अथवा आत्महत्या करता है। यदि किसी स्थूलदर्शी को अधर्माचरण करने वाला मरता दिखाई नहीं देता तो यह उसकी दृष्टि या समझ का दोष है, क्योंकि विचारशील मनुष्य भली भांति जानते हैं, कि अधर्मा-

चरण अर्थात् आत्मा तथा शरीर के प्रतिकूल आचार व्यवहार से अधर्मों के आत्मा तथा शरीर दोनों की जीवन शक्तियों, आध्यात्मिकता और पौरुष आदिका अवश्य ह्रास होता है, और जीवन-शक्तियों का ह्रास ही मृत्यु है। मनु के इस वाक्य में धर्म के हनन से अभिप्राय केवल धार्मिक मर्यादाओं के विरुद्ध आचरण करने से है, धर्म के विनाश से नहीं। क्योंकि स्वर्गीय श्री० ला० लाजपत राय जी के कथनानुसार "जिस तरह जल का धर्म, अग्नि का धर्म, वायु का धर्म है, उसी तरह मनुष्य का भी धर्म है। इसलिए जब तक संसार में मनुष्य जाति विद्यमान है तबतक उसका धर्म बना रहेगा, और वह किसी के मिटाये मिट नहीं सकता।"

महामुनि जैमिनि ने मीमांसा शास्त्र के सूत्र—

"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः"

में जो धर्म का लक्षण प्रेरणा किया है उससे भी धर्म का अमरत्व सिद्ध है। क्योंकि जिस प्रकार प्रकाश करना अग्नि का धर्म अथवा स्वभाव है उसी तरह प्रेरणा आत्मा का धर्म अथवा स्वभाव है। और आत्मा के नित्य होने से उसका धर्म भी नित्य है। चूँकि आत्मा के इस प्रेरणा रूप धर्म को साधारण बोल चाल में ज़मीर, कान्शन्स अथवा अन्तरात्मा की आवाज़ कहा जाता है और इसको प्रत्येक मनुष्य स्वयं अनुभव करता है, इसलिये यह स्वयं सिद्ध है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी धर्म को सत्य व सत्य को धर्म बतलाया है, और सत्य का कभी नाश नहीं होता। उपनिषद मन्त्र इस प्रकार है—

योवै स धर्मः, सत्यं वैतत् तस्मात्सत्यं बदन्तमाहुः धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीत्येतद्ध्यैवैतदुभयं भवति। १।४।१४

अर्थात् जो धर्म है वही सत्य है, इसी कारण सत्यवक्ता को धर्मवादी और धर्मोपदेशक को सत्यवादी कहते हैं। निश्चय करके सत्य और धर्म यह दोनों एक हो हैं।

अतः ऐसे धर्म का तो कहना ही क्या है, इसको मिटाना तो असंभव है ही, परन्तु धर्माभासी मजहबों के मिटाने का कार्य्य भी इतना सुगम नहीं है कि जिसको प्रत्येक छोटा बड़ा आदमी भी कर सके क्योंकि शताब्दियों से प्रचलित होने के कारण उनकी जड़ें बहुत गहरी और दृढ़ हो चुकी हैं। उनके रक्षक और प्रचारक भी मौजूद हैं, जोकि उनकी रक्षार्थ अपने प्राणों को भी अर्पण करने के लिए तय्यार रहते हैं। इसलिए यह केवल ऐसे घृणायुक्त छू-मन्त्र मात्र से मिटाये नहीं जा सकते। इनके मिटाने अथवा सुधारने की उचित रीति भो किसी यति दयानन्द जैसे सुधारक से ही सीखनी होगी। और इसके लिये दिनों, महीनों और वर्षों का ही नहीं किन्तु शताब्दियोंका सत्याग्रह करना होगा। सहस्रों सुक़रात, लूथर और दयानन्द जैसे महान् सुधारकों के अमूल्य जीवनों का बलिदान करना पड़ेगा; तब कहीं जाकर इन धर्माभासी मजहबों अथवा मतमतान्तरों के विचार आचार में परिवर्तन करते करते उन्हें धर्म की असली आकृति (सूरत) और प्रकृति (सीरत) में लाया जा सकेगा।

अन्त में मैं इन देश-भक्तों और श्रम-जीवियों के प्रति सहानुभूति रखने वाले आक्षेप-कर्ताओं के देश-प्रेम और ग़रीबों से सहानुभूति के भाव को सम्मान करता हुआ उनकी सेवा में यह निवेदन करूँगा कि उन्होंने मज़हबों के राष्ट्रीय एकता के बाधक संघर्ष और दल बन्दियों से क्रुद्ध और उत्तेजित होकर ईश्वर और धर्म के विरुद्ध भी जो जहाद का आरम्भ कर दिया है वह अहितकर और भयंकर है। क्योंकि वह इससे अशिक्षित जनता को यह शिक्षा दे रहे हैं कि ईश्वर, धर्म अथवा सदाचार अर्थात् समाज व देश की व्यवस्था और शान्ति के स्थिर रखने वाली मर्यादायें वास्तव में कुछ नहीं, उनकी कोई परवाह न करो। क्या वह अपने इस कृत्य से अनाचार का प्रचार करके समाज की जड़ों को खोखला नहीं कर रहे हैं ? वह यदि शान्त चित्तसे सोचेंगे तो उन्हें विदित होगा कि उनका यह कार्यक्रम विनाश का कार्यक्रम है विकाश का नहीं। क्योंकि सभ्य संसार ने आज तक जो धार्मिक या सदाचार मौलिक उन्नति की है वह उस सबको फिर से नष्ट करदेना चाहते हैं। या यूँ कहिये कि वह ईश्वर-भक्ति, आध्यात्मिकता, सभ्यता, अहिंसा और न्याय आदि सदाचार तथा व्यवस्था और शान्ति आदि आदि मानवीय विशेषताओं, (ख़ूबियों) को उद्दण्डता की ज्वाला अथवा उच्छृँखलता की चिता में भस्म कर देना चाहते हैं। अतः उन्हें अपनी इस कार्यशैली पर फिर से विचार करना चाहिए और इतिहास में अपना नाम संसार को विनाश की ओर ले जाने वालों में नहीं, बल्कि विकास की ओर

ले जाने वालों में लिखाना चाहिए।

अन्तिम निवेदन

पाठक वृन्द ! मैंने जिस मनुष्य-धर्म का पीछे निरूपण किया है, यह कोई मेरा कल्पना किया हुआ नहीं है, बल्कि यह वही सनातन सार्वजनिक वैदिकधर्म है कि जिसको सृष्टिके आरम्भ से लेकर आज तक सारे ही ऋषि, मुनि, दार्शनिक तथा शास्त्रीय पण्डित मानते चले आये हैं। जैसा कि इस पुस्तक के आरम्भ में 'धर्म का स्वरूप' शीर्षक के नीचे उद्धृत किये प्रमाणों से ज़ाहिर है। इसी धर्म का प्रचार इस युगके महान् सुधारक ऋषि दयानन्द ने किया है। क्योंकि वह इस धर्म को ही एकता तथा संसार की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नतिका साधन समझते थे। यही कारण है कि उन्हों ने जहां अपने स्थापित किये हुए आर्य-समाज की नियमावली में आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य यह रक्खा है—

संसार का उपकार करना इस समाजका मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना"

नियम नं० ६.

वहां इस के साथ ही उन्नति के साधन उक्त धर्म को आचरण में लाने के लिये नियम संख्या ५,७ (पांच व सात) को बना दिया है। जो कि इस प्रकार है:—

सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्यासत्य को विचार कर करने चाहियें।

नियम नं० ५.

"सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बरतना चाहिए"

नियम नं० ७.

इस के अतिरिक्त मैंने मतमतान्तरों के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं वह भी मतमतान्तरों से दुःखित आजकल के देश-भक्तों के अनुकरण में नहीं किये गये, बल्कि उनका आधार भी वही विचार हैं कि जिनका उल्लेख आज से ५० वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार किया है:—

इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत में जो जो अनिष्ट फल हुए, होते और होंगें, उन को पक्षपात रहित विद्वज्जन जान सकते हैं, जब तक इस मनुष्य जाति में से परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरोध न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा।

सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास की अनुभूमिका

"और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं, मैं उनको पसन्द नहीं करता, क्योंकि इन्हीं मतवादियों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व-सत्य का प्रचार कर, सब को एक मत करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीति युक्त करा के सब से सब को लाभ पहुँचाने के लिये मेरा

प्रयत्न और अभिप्राय है। सत्यार्थप्रकाश के अन्त से

यदि पाठकों को इस से अधिक जानने की इच्छा हो तो उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये ऋषि ने सत्यार्थ प्रकाश के उत्तरार्ध अर्थात् ११ वें १२ वें १३ वें और १४ वें समुल्लास में मतमतान्तरों की जो समीक्षा की है, उसका अध्ययन करें।

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि जिन मत मतान्तरों को उनके राष्ट्रीय एकता में वाधक होने, देश में वैर विरोध के बढ़ाने वाले और देशवासियों के परस्पर प्रेम प्रीति तथा सहानुभूति के विनाशक होने के कारण आज भयंकर समझा जा रहा है, और देशहितैषी जिन को संसार से मिटा देने की इच्छा प्रकट कर रहे हैं, आज से ५० वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने उनकी इस भयंकरता को अनुभव कर लिया था, अनुभव ही नहीं वल्कि वास्तविक धर्म के प्रचार द्वारा उनके सुधार के लिए प्राणान्त तक काम भी किया, और अपने प्राण भी इसी काम के लिए दिये। ऋषि के पश्चात् आर्य समाज ने भी अपने पूज्य प्रवर्तक के इस काम को बराबर जारी रखा है। और उसने अपने आधी सदी के जीवन में मतवादियों तथा राज्यकर्मचारियों की उपस्थित की हुई अनेक प्रकार के विघ्न बाधाओं को सहन करते हुए तथा दरजनों अपने पूज्य नेताओं व आर्यवीरों का बलिदान देनेके बावजूद धर्म, देश और राष्ट्रीय सेवा का जो शानदार काम किया है और कर रहा है, वह किसी भी देश की अवस्थाओं का अध्ययन करने वाले इतिहासज्ञ से छिपा हुआ नहीं है। उसके सविस्तार वर्णन करनेके लिए न तो

यहां पर स्थान ही है और न ही वह इस पुस्तक का विषय है। परन्तु आश्चर्य का स्थान है कि ऐसे परमोपयोगी समाज के सम्बन्ध में भी समयके उथले विचारों से प्रभावित हुए हुए कुछ अदूरदर्शी लोगों को ओर से कभी २ यह कहा जाता है कि आर्यसमाज का काम खतम हो चुका है,अब इसकी जरूरत नहीं है। ऐसे लोगों की सेवा में मेरा नम्र निवेदन यह है कि क्या आर्यसमाज का उक्त मुख्य उद्देश्य पूरा हो गया है और पूर्व कथित धर्म के प्रचार तथा मतमतान्तरों और समाज-सुधार की संसार को जरूरत नहीं रही ? यदि जरूरत है, और निश्चित रूप से है तो धर्म के प्रचारक व समाज के सुधारक आर्यसमाज की भी अवश्य जरूरत है। क्षमा कीजिए यदि मैं यह कहने की गुस्ताखी करूं कि वर्तमान इण्डियन नेशनल कांग्रेस की जरूरत तो भारत को स्वराज्य मिलने पर मिट सकती है और इस वक्त भी उसको जरूरत केवल भारत जैसे अभागे पराधोन देश को ही है। और मैं तो यह चाहता हूं कि ईश्वर करे इसकी जरूरत शीघ्रातिशीघ्र मिट जाये। परन्तु धर्म प्रचारक और समाजसुधारक आर्य समाज की जरूरत सब देशों को ही उस समय तक बराबर बनी रहेगी कि जिस समय तक अधर्म तथा बिगाड़ संसार में मौजूद है। चूँकि यह निश्चित है कि यह दोनों ही न्यूनाधिक मात्रा में संसार में सर्वदा बने रहेंगे। इसलिए धर्म प्रचारक व सुधारक समाजों और व्यक्तियों की जरूरत भी सदा ही बनी रहेगी।

॥ इति ओ३म् शम् ॥